प्रेमशंकर ने कवि-कर्म के रूप में भी अपनी अ.
ात्मक विचारधारा की थाह ली है और उसका परीक्ष
या है जिसे प्रकारान्तर से रचनाकार का अन्तः परीक्षण
सकते हैं क्योंकि वे रचना को एक विकासात्मक प्रक्रिया
ते हैं जो समय, जीवन, विचारधारा के साथ अग्रसर होती
इसलिए इसमें सन्देह ही क्या कि उनका कवि-व्यक्तित्व
ोचक-व्यक्तित्व के निर्माण में और आलोचनात्मक संघर्ष
ात्मक मानस के निर्माण में सहायक है। दोनों मनुष्य
हत्व देते हैं। दोनों लोकजीवन, लोक-संस्कृति, लोक-
ा के प्रति उन्मुख हैं और यह उन्मुखता उन्हें स्फूर्ति देती
ारतीय समाज के ऐतिहासिक विकास और परिवर्तन
। में ही प्रेमशंकर इसके लिए चिन्तित हैं कि भारतीय
य की भारतीयता निर्विवाद रूप से प्रमाणित होनी
। और हमारे समय के लेखकों को यह तय करना
कि आधुनिक दृष्टि के साथ इस भारतीयता का क्या
श्ता बन पाया है, जो हमारी रचनात्मक संवेदना को
रे और हमारे समय के प्रश्नों पर प्रकाश डाले और
त्तर खोजने की दिशा में भी रास्ता दिखा सके।

—परमानन्द श्रीवास्तव

कर

और रचना

दक

द्र मोहन

क्ष्मीचंद

संस्थान

002
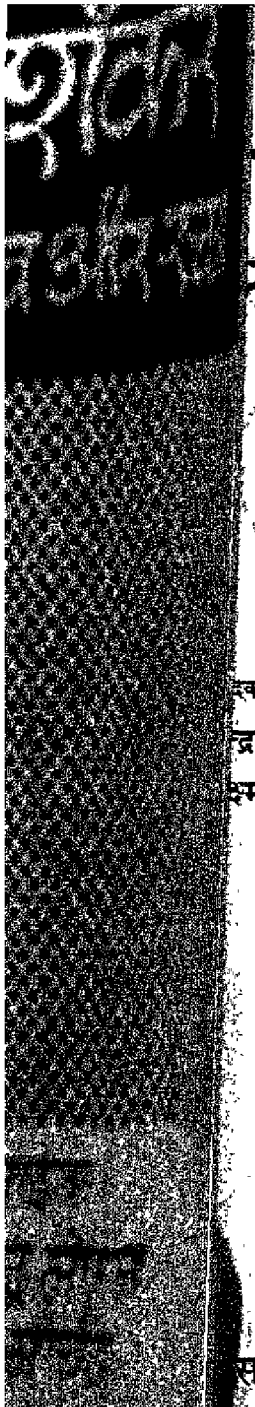
प्रेमशंकर
व्यक्तित्व और रचना

सम्पादक
डॉ० वीरेन्द्र मोहन
डॉ० लक्ष्मीचंद

प्रकाशन संस्थान
नई दिल्ली 110002

प्रकाशक :
प्रकाशन संस्थान
4715/21 दयानन्द मार्ग, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

प्रथम संस्करण : 1991

मूल्य : रु० 100.00

मुद्रक :
रुचिका प्रिंटर्स,
नवीन शाहदरा दिल्ली-110032

सम्पादकों की ओर से

प्रो० प्रेमशंकर प्राध्यापकों की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें विद्या के प्रति निष्ठावान समर्पण रहा है और जो 'वट बरोहों में जीता है' की अवधारणा में आस्था रखती आई है। काशी, लखनऊ, सागर उनकी सारस्वत-यात्रा के प्रमुख केन्द्र हैं पर उन्होंने अपने जीवन का अधिकतम अंश सागर को दिया। यहाँ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के संरक्षण में कार्य करते हुए उन्होंने स्वयं भी इस विभाग को अकादमिक नेतृत्व दिया और विद्यार्थियों की कई पीढ़ियाँ सँवारने में उनका हाथ रहा है। उनके मानवीय व्यक्तित्व, कुशल अध्यापन, निरन्तर अध्यवसाय ने नयी युवा पीढ़ी को कर्मवान प्रेरणा दी। प्रस्तुत पुस्तक प्रो० प्रेमशंकर को सही संदर्भ में देखने-समझने का विनम्र प्रयास है। हम उन सभी के प्रति कृतज्ञ हैं जिनकी सदाशयता से यह अनुष्ठान सम्भव हो सका। डॉ० प्रेमशंकर के लखनऊ क्रिश्चियन कॉलेज के पुराने छात्र श्री ओमप्रकाश अग्रवाल (कलकत्ता) के सौजन्य से पुस्तक का प्रकाशन हो रहा है, उनके प्रति हमारा आभार।

सागर
वसंत, 1991

वीरेन्द्र मोहन
लक्ष्मीचन्द

अनुक्रम

संधान : वीरेन्द्र मोहन 9

1. व्यक्तित्व की खोज

लीक से हटकर : परमानन्द श्रीवास्तव 20
ध्रुवों के मध्य सत्य की खोज : विश्वम्भरनाथ उपाध्याय 27
रचना और समाज : आनन्दप्रकाश दीक्षित 32

2. स्वच्छन्दतावादी संसार

प्रसाद का काव्य : रामकुमार मिश्र 44
कामायनी का रचना संसार : नन्दकिशोर नवल 53
हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य : सन्तोषकुमार तिवारी 62
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : गुलाब सिंह 69

3. भक्ति की सामाजिकता

भक्तिकाल की चिन्तन परम्परा : कुंवरपाल सिंह 75
भक्तिकाव्य की सामाजिक चेतना : अरुणप्रकाश मिश्र 83
भक्तिकाव्य की लोकवादी भूमि : लक्ष्मीचन्द 91

4. नयी रचनाशीलता

नयी कविता की भूमिका : आनन्दप्रकाश दीक्षित 106
आलोचना में हस्तक्षेप : मधुरेश 112
सृजन और समीक्षा : नवलकिशोर 120

5. निबन्ध यात्रा

शब्द की अर्थसत्ता : गोपाल राय 124
संवेदन की ईमानदारी : वीरेन्द्र मोहन 130
निर्बन्ध यात्रा : श्रीमती मीना पिपलापुरे 136

6. सदाशय के शब्द 142-150

विद्यानिवास मिश्र, हरिशंकर परसाई, विष्णुकान्त शास्त्री, शेषेन्द्र शर्मा, नेमिचन्द्र जैन, भीष्म साहनी, निर्मला जैन, राजेश जोशी, अरुण कमल, श्यामाचरण दुबे, देवराज, केदारनाथ सिंह

प्रेमशंकर : परिचय 151

संधान

वीरेन्द्र मोहन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी आलोचना का एक ऐसा अनुशासन विकसित किया जो अकादमिक और व्याख्यापरक आलोचना पद्धति के स्थान पर विचार-विश्लेषण और रचना के आस्वाद को प्रस्फुटित कर सके। उन्होंने प्रबन्ध और निबन्ध पद्धतियों पर आलोचना की सारग्राही शक्ति का उद्‌घाटन कर 'लोकमंगल' के आधार पर रचना का परीक्षण भी किया। इस प्रकार उन्होंने आलोचना को एक स्वतन्त्र हैसियत प्रदान की। रचना की गहराई में पैठे बिना और रचनात्मक प्रकार्यों को जाने बिना यह सम्भव नहीं था कि वे आलोचना की युगान्तरकारी भूमिका को प्रतिष्ठित कर पाते। यद्यपि यह कहने का अब कोई अर्थ नहीं है कि अच्छे आलोचक का अच्छा रचनाकार होना कोई नियामक शर्त है। यह बात दीगर है कि आचार्य शुक्ल को रचनात्मक क्षमता भी हासिल थी। इस अर्थ में उनकी प्रतिभा का विस्तार और विकास अन्तरानुशासनी भी रहा। काव्य-रचना से लेकर कहानी, निबन्ध, आलोचना, अनुवाद के साथ कला की अन्य भूमियों पर वे गये। स्वयं को रचनात्मक प्रक्रिया से गुजारकर वे आलोचना का परिपाक बना सके। संस्कृत और अंग्रेजी-परम्परा और आधुनिकता के द्वन्द्व को वे बखूबी समझ रहे थे। कलावाद की चुनौतियों से टकरा रहे थे और आलोचना की वस्तुवादी पद्धति का मार्ग निर्मित कर रहे थे। इस दृष्टि से वे पुराणपंथियों के विरुद्ध आधुनिक चिन्तन की दृष्टि से लैस थे। लोकमंगल और मर्यादावाद की कसौटी पर जो खरा नही उतरा उसकी आलोचना करने में उन्होंने संकोच नहीं किया। इसलिए टकराव भी अपरिहार्य था। कई जगह अपनी मान्यताओं के लिए उन्हें अपनी ही परम्परा से संघर्ष करना पड़ा। यह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सीमा या कमजोरी नही, बल्कि परम्परा के अगले उत्थान के लिए चुनौती बनना भी था, अन्यथा शब्द-न्याय का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र पिष्टपेषण ही बन कर रह जाता।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को अपनी असहमति का सामना आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के छायावाद सम्बन्धी चिन्तन से करना पड़ा। शुक्लजी के चिन्तन रूपी

बीज से संघर्ष कर वृक्ष तैयार हुआ : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का छायावादी काव्य-चिन्तन। यह परम्परा का अतिक्रमण नहीं, उसका विकास है। आचार्य वाजपेयी ने नयी रचना के अनुरूप आलोचना का विकास किया। कहने को इसे हम स्वच्छन्दतावादी आलोचना पद्धति कह सकते हैं, रसवादी आलोचना का विकास स्वछन्दतावादी आलोचना की दिशा में। इसी पद्धति से आचार्य वाजपेयी ने आचार्य शुक्ल की विश्व-दृष्टि से प्रेरणा पाकर लोकमंगल का नया विधान रचा और छायावादी काव्य की साहित्यिक प्रतिष्ठा के लिए अपनी परम्परा से संघर्ष किया। अपनी लिरिकल चेतना को भी महाकाव्यात्मक बनाया। हिन्दी स्वच्छन्दतावादी कविता की नयी भाव-भूमि का उद्‌घाटन किया। परन्तु अपनी परम्परा से नाता नहीं तोड़ा। रामचरितमानस और सूरसागर उनकी औदात्यपरक चेतना से अलग नहीं हुए। नयी रचनाशीलता के वे सजग प्रवक्ता बनते गये। छायावाद और छायावादोत्तर साहित्य उनकी रचना का आधार बने। हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी के प्रति उनकी जिम्मेदारियाँ कहीं अधिक बढ़ गयी।

हिन्दी के निर्माण और विकास के लिए आचार्य वाजपेयी ने भाषा-चिन्तन को भी नये विचारों से प्रेरित किया। हिन्दी के प्रति उनकी यह संलग्नता केवल लेखन तक ही सीमित न होकर एक आन्दोलन के रूप में दक्षिण भारत तक पहुँची। इस प्रकार हिन्दी भाषा और साहित्य को भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य से जोड़ने में वे सेतु बने। अस्तु—आज उनकी मान्यताओं को सन्दर्भों से काटकर हम ऐतिहासिक सच को असत्य नहीं बना सकते। यदि हम परम्परा की बात को स्वीकार करने की मजबूरी से ग्रसित हैं तो आचार्य शुक्ल, आचार्य वाजपेयी अथवा आचार्य द्विवेदी की उपेक्षा कर परम्परा के इकहरेपन को ही दरसा सकते हैं। पर क्या परम्परा इतनी इकहरी होती है? डॉ० प्रेमशंकर की आलोचना परम्परा पर विचार करने के पूर्व हम कुछ अन्य विन्दुओं की भी चर्चा करना चाहेंगे।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृति को 'महामानव समुद्र' कहा है जिसमे परम्परा रूपी तमाम धाराएँ समाहित होती हैं, एक दूसरे को काटती, आत्मसात करती। परस्पर अन्तर्क्रिया करती इन परम्पराओं से ही महामानव का समुद्र अधिक विशाल और समृद्ध होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को कलात्मक विनोद और मेघदूत की पुरानी कहानी यहीं से मिली तो बाण, कबीर, रिक्व और सिख गुरु यहीं से मिले। जैसे आचार्य शुक्ल को तुलसी और जायसी मिले। आचार्य वाजपेयी को प्रसाद, निराला, पंत मिले। इन धाराओं में परस्पर टकराव होता या नहीं, महामानव समुद्र में तो ये सभी परम्पराएँ मिली हैं ही जैसे डॉ० रामविलास शर्मा को भारतेन्दु, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द और निराला मिले। जैसे प्रेमशंकर को भक्त कवि या स्वच्छन्दतावादी कवि मिले। इतिहास को आलोचना का विषय बनना पड़ता है पर वह आलोचना नहीं हो

सँकता महामानव समुद्र मे मिलनेवाली धाराओ को तभी तक परम्परा माना जा सकता है जब तक वे गतिशील हैं। कमज़ोर धाराएँ तो बीच में ही सूखकर लुप्त हो जाती हैं, या द्वीप भर बन जाती हैं। इसलिए उनकी कोई परम्परा भी नही होती।

डॉ० प्रेमशंकर की यात्रा कविता से प्रारम्भ हुई। अध्यापकीय दबाव से वे आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश करते चले गए। यह तथ्य उनकी स्वीकृति है। यद्यपि कविता-यात्रा बन्द नहीं हुई। आज भी उनकी कविता में अपने समय की ज्वलन्त समस्याओं और सामाजिक अन्तर्विरोधों के प्रति आक्रोश और व्यंग्य की तासीर मिलती है। आखिर त्रिलोचनजी ने उनकी कविता की करुणा और व्यंग्य को यों ही महत्वपूर्ण नहीं माना है। कवि रूप में प्रेमशंकर की सामाजिक जिम्मेदारी उनके आलोचक व्यक्तित्व में फाँक नहीं पैदा करती; बल्कि उनकी आलोचना को एक समाजशास्त्रीय मॉडल के रूप में विकसित करने में सहयोगी सिद्ध हुई है। डॉ० प्रेमशंकर यदि कविता से आलोचना के संकुल मार्ग में आये तो यह उनकी विवश स्थिति न होकर एक चुनौती को स्वीकार करने की जिम्मेदारी का बोध भी है। मजबूरी इस अर्थ में कि एक कवि का जन्म होकर जीवन आलोचना को मिला; अन्यथा इसकी पूरी सम्भावना थी कि प्रेमशंकर एक कवि के रूप में कविता को नयी सम्भावनाओं से सम्पन्न कर सकते थे; क्योंकि कविता ने उनके भीतर सवालों की बेचैनी पैदा की। चुनौती इस अर्थ में कि कविता की रसमयता से उन्होंने आलोचना को पठनीय बनाया। उसे कविता के सहयोगी निकाय के रूप में विकसित करने मे डॉ० प्रेमशंकर की सक्रिय हिस्सेदारी है। अगर पुस्तकों का जिक्र फिलहाल न भी किया जाये तो उनका पत्र-पत्रिकाओं का लेखन इस सहयोग की शानदार मिसाल है। 'युगचेतना' के सम्पादन में शामिल होकर 'कल्पना' और 'आलोचना' तक उनका लेखन अपने समकालीन रचनाकारों के बीच उनके कवि और आलोचक व्यक्तित्व के भेद को ही अस्वीकार कर देता है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का वह युग जब स्वाधीनता का आन्दोलन युवा पीढी के अन्दर एक उमंग पैदा कर रहा था, प्रेमशंकर बी० ए० के छात्र के रूप मे आचार्य वाजपेयी के सान्निध्य में आये। इसके लिए प्रेमशंकर के आद्यगुरु ठाकुर जयदेवसिंह उनकी साहित्यिक प्रतिभा के अनुकूल संबल बने। देश आज़ाद हुआ और आज़ादी का जश्न युवकों के लिए एक नये ज्योतिपुंज के समान आह्लादकारी था। राष्ट्रीय भावनाओं के युग में काशी केवल शास्त्रज्ञों का ही केन्द्र नही थी, रसिकों का भी केन्द्र थी। ओंकारनाथ ठाकुर, शिवमंगल सिंह 'सुमन' और त्रिलोचन भी वहाँ के रहवासी थे। निराला और नामवर सिंह भी घूमते-फिरते थे। 'मधुर मनोहर अतीव सुन्दर ये सर्वविद्या की राजधानी' यों ही नहीं फूट पड़ा था। देश आजाद हुआ। एक नयी उमंग और एक नया संकल्प नयी पीढ़ी के अन्दर

विकसित हुआ . प्रेमशकर भी यह चेतना लेकर साहित्य मे आये राष्ट्रीय भावनाओं की कविता ने इसी पृष्ठभूमि पर जन्म लिया।

डॉ० प्रेमशंकर की सर्जन-क्षमता को विस्तार सागर में मिला, गहराई भी। आचार्य वाजपेयी का सान्निध्य यहाँ भी मिला और 'प्रसाद का काव्य' के पहले शोधकर्त्ता होने का गौरव भी। यह आचार्य वाजपेयी की आधुनिक दृष्टि और अपने समय में साहित्य के जानने-समझने का एक ऐसा नया प्रस्थान है जिसका लाभ उनके विद्यार्थियों को मिला। बहुत ही सोच-समझ कर आचार्य वाजपेयी ने अपना निकाय विकसित करने का प्रयत्न किया। इस तथ्य को स्वीकृति मिलनी चाहिए कि आचार्य वाजपेयी का जो निकाय है, वह शोध और आलोचना की नयी-नयी सरणियों से हमें परिचित कराता है। डॉ० प्रेमशंकर उसी की एक शानदार पहचान हैं। आचार्य वाजपेयी ने यदि सागर को साहित्य के एक विकसित केन्द्र के रूप मे प्रतिष्ठित किया तो इससे उनकी राष्ट्रीय चिन्ता के विकसित होने का भी अवसर मिला। साहित्य-सम्बन्धी चिन्ताओं को एक समूह की चिन्ता में बदलकर वाजपेयी-निकाय की नयी जिम्मेदारी प्रेमशंकर आदि ने निभायी। इस तरह अपने निकाय का विकास भी किया। प्रसाद के अतिरिक्त अन्य छायावादी, छायावादोत्तर कविता या गद्य को एक निकाय मानकर यदि आचार्य वाजपेयी ने शोध की नयी-नयी भूमियों की खोज की तो यह परम्परा प्रेमशंकर की आलोचना और शोधपद्धति मे एक नया विकास पाती है। खुद प्रेमशंकर 'प्रसाद का काव्य' को अपने शोध का प्रस्थान बनाकर आगे-पीछे के साहित्य तक अपना विस्तार करते हैं। पुराने साहित्य को जानने-समझने के प्रति, अपनी परम्परा के प्रति जो सम्मान और ललक का भाव है तथा नये-से-नये के प्रति जो जिज्ञासा और प्यार का भाव है, वह प्रेमशंकर के लेखक और पाठक व्यक्तित्व की जीवन्त मिसाल है। इसके मूल में भी आचार्य वाजपेयी निकाय की शिक्षा-दीक्षा और संस्कार हैं। बनारस और इलाहाबाद स्कूल भी यहाँ पिछड़ जाते हैं। या तो उनमें अन्ध परम्परावाद ताने मारता है या आधुनिकतावाद का भूत उनकी नियति बन जाता है। आचार्य वाजपेयी इससे भिन्न अर्थ में आधुनिकता के प्रतिष्ठाता है।

डॉ० प्रेमशंकर ने छायावाद के लिए आचार्य वाजपेयी द्वारा प्रयुक्त नाम स्वच्छन्दतावाद का प्रयोग किया। यद्यपि वे 'प्रसाद का काव्य' में छायावाद नाम को भी स्वीकृति देते हैं। इसी प्रकार से वे आचार्य वाजपेयी की वृहत्त्रयी को स्वीकार कर 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' में प्रसाद-निराला-पंत की वृहत्त्रयी को अपने अध्ययन-विश्लेषण में शामिल करते हैं। प्रसाद का काव्य, हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य, कामायनी का रचना-ससार जैसी आलोचनात्मक कृतियाँ डॉ० प्रेमशंकर के स्वच्छन्दतावाद सम्बन्धी अध्ययन और दृष्टिकोण को समझने में हमारी सहायता करती हैं। न केवल सहायता करती हैं, वरन् वे अनिवार्य भी हैं। डॉ० प्रेमशंकर

स्वच्छन्दतावादी काव्य को उसके सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ में रखकर देखने क प्रयत्न करते हैं। पश्चिम के रोमाण्टिक आन्दोलन पर भी उनकी दृष्टि जाती है और वे प्रमुख हिन्दी छायावादी कवियों के गहरे विश्लेषण में उतरते हैं।

डॉ० प्रेमशंकर ने भक्तिकाव्य का जो समाजशास्त्रीय और सांस्कृतिक अध्ययन-विश्लेषण किया वह भक्तिकाव्य की भूमिका, भक्ति-चिन्तन की भूमिका, रामकाव्य और तुलसी, कृष्णकाव्य और सूर, भक्तिकाव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना, 'भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र' में देखा जा सकता है। इससे उनके अध्ययन के क्रमशः विकसित होते दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। प्रस्तुत अध्ययन के माध्यम से डॉ० प्रेमशंकर ने भक्तिकाव्य सम्बन्धी उपलब्ध चिन्तन को आगे बढ़ाया है और इस तरह से परम्परा का विकास भी किया है। यहाँ आचार्य शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ आचार्य वाजपेयी के भक्तिकाव्य सम्बन्धी चिन्तन की समानान्तर रेखाएँ तलाशी जा सकती हैं। लोक और शास्त्र की गहरी परख डॉ० प्रेमशंकर के इस अध्ययन में परिलक्षित होती है। यहाँ आचार्य शुक्ल या आचार्य द्विवेदी की परम्पराएँ भी विरोधी नहीं बनतीं। कबीर को लेकर इनमें विरोध भाव है, परन्तु तुलसी या सूर के विषय में ऐसा क्यों नहीं। रमेशकुन्तल मेघ की 'तुलसी आधुनिक वातायन से' तथा विश्वनाथ त्रिपाठी की 'लोकवादी तुलसीदास' मे द्विवेदीजी के चिन्तन का विस्तार परिलक्षित होता है। विश्वनाथ त्रिपाठी 'लोक-वादी तुलसीदास' लिखकर आचार्य शुक्ल की लोकमंगल की साधना को ही सिद्ध करते हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि परम्पराओं की बात अभी हाल ही में नये विचार-मन्थन के साथ प्रारम्भ हुई है। यह जरूरी नहीं कि हम परम्परा के रूप को दशकों के साहित्य में ही तलाशें। परम्परा सैकड़ों-हजारों वर्षों की संचित राशि का विकास भी करती है और यह विकास जहाँ ज्यादा नये और ताजा रूप में दिखायी दे जाता है, उसे ही परम्परा प्रवर्तक के रूप में स्वीकार करने लगते हैं। यह व्यक्तित्व की विराटता का भी बोध कराती है। इस रूप में हिन्दी की आचार्य परम्परा में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी या आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अलग-अलग परम्पराएँ नहीं हो सकते। ये आपस में मिलते भी हैं, इनकी टकराहट भी नये विकास और उत्थान को लेकर आती है।

डॉ० प्रेमशंकर या शिवकुमार मिश्र, नामवरसिंह या केदारनाथसिंह व्यापक अर्थ में एक ही परम्परा हैं और एक ही निकाय है। प्रेमशंकर का अध्ययन अपने को इस परम्परा से जोड़ता है। वे एक व्यापक अन्तर्वर्ती परम्परा को स्वीकार करते हैं। यदि डॉ० प्रेमशंकर कृषक-चरवाहा संस्कृति या कलियुग के भयावह यथार्थ को भक्तिकाव्य के समाज से जोड़ते हैं तो वे अपनी उसी लोकचेतना को व्यक्त कर रहे होते हैं जो भक्ति काव्य के अध्ययन का सबसे प्रस्थानक आधार है।

सिद्धान्त और चिन्तन-निरूपण के सन्दर्भ में वे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की निष्पत्तियों का विकास कर रहे होते हैं। डॉ० प्रेमशंकर ने लोक परम्परा और शास्त्र परम्परा की अन्त:रेखाओं को तलाश कर भक्तिकाव्य की एक ऐसी व्याख्या की है जो हमें उसकी मूल सम्वेदना से जोड़ने में सक्षम है। कहना न होगा कि उनका सद्य:प्रकाशित ग्रन्थ 'भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र' उनके चिन्तक के जिस धरातल को प्रस्तुत करता है, वह उन्हें एक प्रखर समाजवैज्ञानिक और चिन्तन की कोटि में ला देता है। ऐसा नहीं है कि डॉ० प्रेमशंकर के अलावा किसी ने भक्तिकाव्य को इस दृष्टिकोण से देखा न हो, परन्तु उन अध्ययनों की सीमा है, जो किसी एक पक्ष को लेकर चलते हैं। डॉ० प्रेमशंकर ने भक्तिकाव्य के किसी एक पक्ष को नहीं, उसके सम्पूर्ण को अपने अध्ययन-विवेचन का आधार बनाया है। वे कबीर या तुलसी की तरह मीरा और रसखान को भी इस परम्परा में छोटा नहीं मानते। वे दार्शनिक चिन्तन धाराओं तथा लोकवादी परम्परा को इस कविता की बुनियाद मानते हैं। इस प्रकार अध्ययन और विश्लेषण की सम्भावनाओं को विकासमान बनाकर स्वयं को भी लगातार नयी उद्‌भावनाओं की खोज से जोड़ते हैं।

डॉ० प्रेमशंकर मुख्य रूप से अध्यापक हैं; आज के उस अर्थ में नहीं जहाँ अध्यापन पेट पालने का धन्धा माना जाता है। ऐसा हमेशा नहीं रहा। प्रेमशंकर ने जिस पीढ़ी की अन्तरंगता में रहकर अध्यापक बनने के संस्कार पाये, वह राष्ट्र-निर्माण में अग्रणी भूमिका निभाने की ललक को संजोये रखती थी तो दूसरी ओर ज्ञानमीमांसा से अपने को अविच्छिन्न नहीं करती थी। उसके लिए ज्ञान व्यवसाय नहीं था, शुष्क भी नहीं था। उसकी रस-दशा का विस्तार ज्ञान के वितरण में अधिक ऊर्जस्वित होता था। ऐसी पीढ़ी डॉ० प्रेमशंकर को मिली, जिसका बहुत कुछ प्रेमशंकर ने स्वयं अर्जित किया। यह हिन्दी के निर्माण की वह दिशा है जो आज लुप्त होने के कगार पर आ गयी है। सिकुड़ रही है, सूख रही है और हम हैं कि अपने दम्भ के प्रकाशन में प्रदर्शनप्रिय मूढ़ता को ढोये जा रहे हैं। यह विकराल सच एक त्रासदी को पैदा कर रहा है। हम अपने अध्यापक होने की गरिमा से लगातार च्युत होते जा रहे हैं।

ठाकुर जयदेवसिंह, आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एक परम्परा हैं, एक संस्था हैं जो अध्यापन में ही सुख पाती है। यहाँ अनेक अनुशासन मिलकर अपना विस्तार प्राप्त करते हैं। साहित्य-संगीत, कला, लोक-शास्त्र और संस्कृति अविभाज्य हो जाते हैं। भाषाओं की दूरियाँ जहाँ कम हो जाती हैं, ऐसी परम्परा के अन्तेवासी प्रो० प्रेमशंकर हैं। यहाँ विभेदो का परिहार हो जाता है। एक हम हैं कि अपने-अपने भेदों को ही अपनी पहचान बनाते की तरह घूम रहे हैं एक की गरिमा उसके में निहित है पर सीमित नहीं इस मामले में गुरुकुल के आचाय मनीषियो की

याद आती है जो अध्ययन-अध्यापन के साथ अपने शिष्यों के पालन-पोषण में मातृ-पितृ दायित्व का भी वहन करते थे। इसलिए माता-पिता के बराबर और पहले गुरु को सम्मान प्राप्त था। सन्तान के प्रति दायित्व की परम्परा विनम्र असहमति के सामने भी बाधा नहीं बनती। इन्सान गढ़ने के लिए इससे कमतर विधाता के बिना सम्भव भी नहीं।

अध्यापक के रूप में एक पीढ़ी के निर्माण की जिनको चिन्ता रही है, उनमें आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम सर्वोपरि है। जिस तरह से नामवरसिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, रमेश कुन्तल मेघ या केदारनाथ सिंह के शोध निर्देशक मात्र आचार्य द्विवेदी नहीं हैं, बल्कि निर्माता भी हैं। उसी प्रकार से प्रेमशंकर, शिवकुमार मिश्र केवल आचार्य वाजपेयी के छात्र नहीं हैं; बल्कि ज्ञान में उनका अंश भी है। शास्त्र से लेकर रचना की बारीकियों से परिचित कराते हुए रसदशा और भावदशा तक ले जाना सबके बूते का काम नहीं है। यह क्षमता भी ज्ञान की सहजता से ही सम्भव है। आचार्य वाजपेयी और आचार्य द्विवेदी इस कला के लिए मानदण्ड स्वरूप हैं। इन दोनों की आधुनिकता भारतीय आधुनिकता है, जिसमें राष्ट्रवाद के विकासशील तत्त्व हैं जो विचार-विस्तार में हमारी मदद करते हैं और अनेक भावभूमियों तथा विचारभूमियों तक ले जाते हैं।

डॉ० प्रेमशंकर एक अध्यापक के रूप में साहित्य जगत में अपना मान रखते हैं। उनको ये संस्कार भी अपनी गुरु परम्परा से मिले हैं। आज ऐसे अध्यापकों में विद्यानिवास मिश्र, नामवरसिंह, शिवप्रसाद सिंह, विष्णुकान्त शास्त्री, केदारनाथ सिंह आदि के साथ डॉ० प्रेमशंकर का नाम लिया जाता है, जिन्होंने अपने अध्यापकीय व्यक्तित्व को कभी छोटा नहीं किया। लेखक व्यक्तित्व भी उनके अध्यापक को निखारने में सहायक हुआ। इसलिए डॉ० प्रेमशंकर ने एक पीढ़ी के निर्माण का प्रयत्न किया। धनंजय वर्मा, कमला प्रसाद, सन्तोष तिवारी, गुलाबसिंह, सुरेश आचार्य, जनेश्वर, रमेश मिश्र, शिवप्रसाद, कपिल, मीना पिपलापुरे, मृदुला शर्मा, राजमति दिवाकर, लक्ष्मीचन्द, वीरेन्द्र मोहन, चन्द्रहास आदि के निर्माण में उनका योग है। डॉ० प्रेमशंकर न केवल इनके शोध निर्देशक हैं, बल्कि अध्यापक भी हैं। उनसे पढ़ना वशीकरण जैसा होता है। इस विषय में उन्हें दक्षता प्राप्त है, क्योंकि उनके प्रतिमान ठाकुर जयदेवसिंह, आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, आचार्य वाजपेयी और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। डॉ० प्रेमशंकर ने श्रम की परम्परा से अध्यापक तथा लेखक के संस्कार पाये हैं और अपने विद्यार्थियों को विधिवत् प्रशिक्षण दिया है।

डॉ० प्रेमशंकर सच्चे अर्थों में समकालीन हैं। यह समकालीनता उनके सामाजिक बोध से उत्पन्न हुई है। इसलिए जहाँ भी सामाजिक जागरूकता के स्थल उन्हें प्राप्त होते हैं, वे तत्काल उसके सन्दर्भों से जुड़ते हैं। वे चाहे तुलसी की रचना

पर विचार कर रहे हो या . . . . की विविध भाव भूमियो का मथन कर रहे हों, अथवा राजेश जोशी, अरुण कमल आदि की नोटिस ले रहे हों, सर्वत्र सर्जना के एक स्तर पर होते हैं। इसीलिए डॉ० प्रेमशंकर की आलोचना में विद्रोह और विनम्रता के तार एक साथ चलते हैं। चाहे वे अपनी स्थापनाओं को उस तरह से प्रचारित करने में रुचि न रखते हों, पर अपने अन्दर एक ऐसा जुड़ाव महसूस करते हैं कि वे उनके सजातीय हैं। प्रायः डॉ० प्रेमशंकर की आलोचनात्मक क्षमता का विकास वहाँ देखने को मिलता है जहाँ वे लोकभूमि और मानवीय जीवन के सौंदर्य की खोज करते हुए रचना से बार-बार टकराते हैं। भक्तिकाव्य सम्बन्धी उनके अध्ययन ने उनके व्यक्तित्व की कई दिशाओं और रेखाओं का प्रकाशन किया है। इसे हम डॉ० प्रेमशंकर की आलोचना का द्वितीय उत्थान मान सकते हैं। यहाँ से वे अपने रूमानी यथार्थवाद से मुक्त होते हैं। इसकी शुरुआत को 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हिन्दी स्वच्छन्दतावाद को राष्ट्रीय चिन्ताधारा की भावभूमि से जोड़कर भारतीय समाज के जिन स्तरों, स्थितियो से परिचय प्राप्त किया है, वह उन्हें प्रसाद के साथ निराला की यथार्थवादी चेतना से निकटता स्थापित करता है। इस प्रकार प्रसाद के काव्य का भी पुनर्मूल्यांकन हो जाता है। वे आचार्य वाजपेयी की स्वच्छन्दतावाद सम्बन्धी निष्पत्तियों को आगे बढ़ाने का कार्य 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' में करते हैं। इस प्रकार हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य ही वास्तविक प्रस्थान है, जिसके तार भक्तिकाव्य सम्बन्धी अध्ययन से जुड़ते हैं। यह अध्ययन-विकास है, पर भक्तिकाव्य के सन्दर्भ में एक नये मूल्यांकन का परिदृश्य भी।

भक्तिकाव्य डॉ० प्रेमशंकर के लिए मिलानेवाला बिन्दु है। इसीलिए वे सांस्कृतिक इतिहास की चेतना से जुड़ सके। जीवन के अर्जित संस्कारों से भी इस चेतना का सम्मिलन हुआ। फलतः भक्तिकाव्य सम्बन्धी उनका अध्ययन अपनी सीमा का विस्तार कर सका। अपनी सांस्कृतिक चेतना के कई धरातलों से डॉ० प्रेमशंकर की आलोचना ने सांस्कृतिक जीवन की भी खोज की है। भक्तिकाव्य के जिस पक्ष को अभी तक इतिहास से परिचित नहीं कराया जा सका था, उसके पास तक वे गये। इतिहासकारों की उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी दृष्टि के विरुद्ध एक भारतीय इतिहास दृष्टि भी विकसित की। दर्शन के जिन प्रश्नों पर, सिद्धान्तों के जिन बिन्दुओं से जुड़ने की जरूरत थी, उन्हें स्वीकार किया। इस प्रकार भक्ति चिन्तन के सूत्रों को खोजकर उनके मानवीय और वैश्विक धरातल को सामने ला सके। उसकी सीमाओं को भी स्वीकार कर सके। निश्चित रूप से भक्तिकाव्य की इस पीठिका को डॉ० प्रेमशंकर ने समझा है। इसीलिए वे भक्तिकाव्य को भी समझ सके।

हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य के सन्दर्भ में डॉ० प्रेमशंकर स्वच्छन्दतावादी

आन्दोलन की व्यापक पृष्ठभूमि को खोजते है इसीलिए उस कविता के भारतीय आधारों को खोज सके। डॉ० प्रेमशंकर द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की मान्यताओं का प्रयोग इतिहास की समझ और कविता के सामाजिक जगत को खोजने के लिए करते हैं। उनकी आलोचना के संस्कार मार्क्सवादी होने लगते है, पर पार्टी-संचालित और संकीर्णतावादी नहीं। परम्परावादी मन धीरे-धीरे एक नई परम्परा में ढलने लगता है। प्रेमशंकर की आलोचना यात्रा का यह चरण उन्हे नये-नये जीवन सन्दर्भों से भी परिचित कराता है। इसीलिए वे अपने समकालीन रचनाकारों के साथ समकालीन आलोचना में उपस्थित होते हैं। वे एक पक्षधर आलोचक की भूमिका को स्वीकार करते हैं। परसाई के समाजशास्त्र और नागार्जुन की राजनीति की खोज करते हैं। प्रेमशंकर की आलोचना-दृष्टि का निर्माण संघर्ष-युग का परिणाम है। 'युगचेतना', 'कल्पना' से लेकर 'पूर्वग्रह', 'साक्षात्कार' और 'आलोचना' तक में उनके लेख और टिप्पणियाँ नयी रचनाशीलता से निरन्तर सवाद करती हैं। जिन्हें लघु पत्रिकाएँ कहा जाता है उनमें डॉ० प्रेमशंकर का लेखन उनकी समकालीन चिन्ता का परिचायक है।

डॉ० प्रेमशंकर की आलोचना का सामाजिक आधार युग के गतिशील दबावों से निर्मित हुआ है। उनके यहाँ अकादमिक आलोचना देखने को नहीं मिलती। यहाँ सिद्धान्त-प्रतिपादन जैसी पद्धति नहीं मिलेगी। अलबत्ता उनका आलोचनात्मक लेखन एक निश्चित सीमा तक विचारधाराबद्ध लेखक की आलोचना है। डॉ० प्रेमशकर की आलोचना कोई धमासान नहीं रचती। यहाँ सिद्धान्तों की अपेक्षा कार्य-कारण सम्बन्ध की गतिशीलता, उनके कारकों की अन्तर्क्रिया की पहचान कही अधिक महत्वपूर्ण होती है। इसलिए वह रचना के तत्त्वों का अपने भीतर विकास करती है, सिद्धान्त या विचारधारा उसके सहवर्ती हैं। इस दृष्टि से उनकी पुस्तक 'नयी कविता की भूमिका' एक सुसंगत चिन्तन की छाप छोड़ती है। यह अध्ययन किसी बड़े अध्ययन की भूमिका और रूपरेखा का संकेत करता है। रचनात्मक और व्यावहारिक आलोचना का एक अच्छा नमूना यह पुस्तक है।

डॉ० प्रेमशंकर की सैद्धान्तिक और विचारधारात्मक चिन्ताएँ कहीं अधिक बडी है। वे रचना, समाज, राजनीति, प्रेपणीयता, प्रतिबद्धता, सृजन और आलोचना की चिन्ताओं से जुड़ते हैं। इस प्रकार अपना एक सौन्दर्यशास्त्र भी विकसित करने का प्रयत्न करते हैं। कविता प्रेमशंकर की विवशता-सी जान पड़ती है तो केवल इस-लिए कि उसका सम्बन्ध मनुष्य से है। रचना मनुष्य की सृष्टि है। 'सृजन और समीक्षा' में संकलित निबन्ध उनकी इसी चिन्ता का विस्तार हैं। यहाँ हम डॉ० प्रेम-शकर को एक सर्जक-विचारक की भूमिका में पाते हैं। यहाँ उनके अध्ययन की दिशाएँ रचना के सौन्दर्यशास्त्र के प्रश्नों से टकराती हैं। डॉ० प्रेमशंकर की आलोचना में एक विशिष्ट प्रकार की मानवीय अर्थवत्ता भी समाई हुई है।

'पहाड़ी पर बच्चा' प्रेमशंकर का एकमात्र कविता संकलन है। इसमें उनका कविता संसार एक लम्बे काल तक विस्तृत है। इसलिए उनकी कविता में भी कई प्रकार के नमूने मिल जायेंगे। लगभग पैंतीस-चालीस साल की हिन्दी कविता मे आये परिवर्तन के संकेत यहाँ मिल जाते हैं। वस्तु और रूप की दृष्टि से उनकी कविता युग की संवेदना के साथ यात्रा करने वाली कविता है। इसकी प्रमुख चिन्ता मनुष्य और समाज है। इसलिए कवि देश-दुनिया के प्रति प्यार और करुणा का भाव रखता है। यह कविता मनुष्य और देश की बर्बर और दर्दनाक होती स्थिति का बयान भी हो गयी है। प्रेमशंकर की कविता का वैशिष्ट्य है कि वह नये से नये कवि की कविता के सामने अभी पुरानी नहीं पड़ी। उनकी कविताएँ भी अपने समकालीन समाज से गहरी संलग्नता को ही पुष्ट करती हैं।

प्रेमशंकर की एक पुस्तक है : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी। भारतीय साहित्य के निर्माता सीरीज के अन्तर्गत साहित्य अकादमी, नई दिल्ली से निकली है, यह। विदित है कि डॉ० प्रेमशंकर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शिष्य हैं और लम्बे काल तक साथ-साथ अध्यापन कार्य करने का भी अनुभव है। आचार्य वाजपेयी के जीवन से सम्बन्धित तमाम प्रसंग उनके पास हैं। फिर भी डॉ० प्रेमशंकर भावना मे बहने से अपने को बचा ले गये। लिखते हुए वे भावुक नहीं हुए और निजी साहित्यिक प्रसगों तक को नहीं छुआ, जिनमें डॉ० प्रेमशंकर शामिल रहे होंगे और उनकी भूमिका असहमति तक आ पहुँची हो। इसके बिना नया विकास सम्भव भी नही। परन्तु डॉ० प्रेमशंकर ने उस प्रक्रिया को उसकी सम्पूर्णता में स्वीकार किया। इसीलिए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का एक पूरा व्यक्तित्व इस पुस्तक ने निर्मित किया है। याद आता है नन्ददुलारे वाजपेयी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर कई लेख लिखे है और नामवर सिंह ने इधर 'दूसरी परम्परा की खोज' के बहाने ऐसा ही कार्य किया है। परन्तु नामवरसिंह को अपने इस असंदिग्ध महत्त्व के कार्य में आचार्य शुक्ल की मूर्ति को खण्डित करना पड़ा। उसके स्थान पर उन्हें आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी को प्रतिष्ठित करना था। जबकि आचार्य द्विवेदी को प्रतिष्ठित करने के लिए उनके पास निश्चित आधार है, जिन्हें सर्व-स्वीकृति मिली हुई है। डॉ० प्रेम-शकर ने अपने अध्ययन की नीयत में किसी प्रकार के पूर्वग्रह नहीं पाले। इसीलिए यहाँ संहारक रूप की आवश्यकता नहीं पड़ी। आचार्य वाजपेयी के समीक्षक रूप के अतिरिक्त पत्रकार, सम्पादक, निबन्धकार और अध्यापक व्यक्तित्व को यहाँ खोजा गया है। उन्हें छोटा-बड़ा नहीं बताया गया है। उनके स्वच्छन्दतावादी कविता के आलोचक व्यक्तित्व और उनकी मान्यताओं के सन्दर्भ में अत्युक्ति नहीं की गयी है। यहाँ आचार्य वाजपेयी का व्यक्तित्व मूर्त होता है : सौम्य, विनयी और ईमान-दार परन्तु अपनी दिखावट में कुलीन।

प्रेमशंकर की आलोचना के तमाम बिन्दु उनके आलोचनात्मक निबन्धो मे

बिखरे फैले हैं। जहाँ वे कविता से हटकर अपनी आलोचना के औजार तलाशते हैं। उनका समीक्षक आलोचना के तत्व रचना के भीतर तलाशता है। रचना की बुनियादी शर्तों के भीतर ही अपनी बात कहता है। परन्तु डॉ० प्रेमशंकर के बहुत से ऐसे निबन्ध हैं जो इस श्रेणी में नहीं आते हैं। वे बिल्कुल भिन्न धरातल पर विकसित होते हैं। वे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों की परम्परा के नजदीक हैं। कई बार एक ललित निबन्धकार का रूप यहाँ झलकता है। डॉ० प्रेमशंकर समकालीन आलोचना परिदृश्य में उपस्थित हैं। उनकी नोटिस ली जाती है। रचनाकार उनकी आलोचना से प्रेरणा पाता है। प्रदर्शनप्रिय ताम-झाम की अपेक्षा वे एक भारतीय की तरह हिन्दी की इस विरासत से विश्व की दूसरी संस्कृतियों को, देशों को भी परिचित कराते हैं। इस प्रकार भारतीय साहित्य में वे अपनी पहचान बनाते हैं।

लीक से हटकर

परमानन्द श्रीवास्तव

डॉ० प्रेमशंकर उनमें हैं जो अपने पांडित्य तथा अपनी तीखी बौद्धिक जिज्ञासा को निरन्तर नयी रचनाशीलता से सम्पन्न रखना चाहते हैं। उनमें अपने ही व्यक्तित्व के दो रूपों (आलोचक-चिन्तक, कवि-रचनाकार) को लेकर जरूर ही एक खास तरह के तनाव से गुजरना पड़ा होगा—रचना में ही नहीं, रचना के बाहर भी। अपने प्रेम और अपनी घृणा को दो-टूक प्रकट करने के अभ्यस्त प्रेमशंकर को शायद अपनी बेलौस सच्चाई और साहस के लिए कीमत चुकानी पडी हो—इस दृष्टि से भी उनके व्यक्तित्व के भीतर शायद वह तत्व सजीव रहा है—जिसे 'अपने से अनबन' कहते हैं।

प्रेमशंकर को 'युगचेतना'—काल से जानता था पर उन्हें निकट से जाना जब उन्होंने सागर विश्वविद्यालय की किसी संस्कृति-विषयक संगोष्ठी में हिस्सा लेने के लिए आमंत्रित किया था। नये रचनाकारों के लिए उनमें गहरा लगाव और सम्मान का भाव था। यह उनके लिए कोई बाह्य व्यावहारिक गुण न था, उनके भीतर की सच्ची रचनाशीलता थी जो रचना को वैदुष्य से अधिक महत्व देने के लिए निरन्तर सक्रिय थी। उनके आदर्श हमेशा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी थे जिनके लिए महज पांडित्य बोझ था। वह सार्थक तभी था जब रचनात्मकता से निरन्तर सम्पृक्ति उसे सहज सुलभ हो। एक लम्बे समय से उन्हें अपनी वैचारिक बौद्धिक कार्यशाला में नयी-नयी उद्भावनाएं करते हुए देखता आया हूँ। लीक से हटकर चलने के लिए हमेशा बेचैन। जब हिन्दी में काव्यभाषा और शैली विज्ञान पर काम करना महत्त्वपूर्ण समझा जा रहा था, वे सांस्कृतिक समाजशास्त्र के क्षेत्र मे सक्रिय थे और जब 'नये' पर लिखना साहित्यिक बिरादरी में महत्त्वपूर्ण माना जाता था वे 'भक्तिकाव्य' की सामाजिक व्याख्या में संलग्न थे। यह सब उस अवस्था में जब एक रचनात्मक मन उनके यहाँ कविता और आलोचनात्मक विचार—दोनों स्तरों पर सतत् जागरूक था—उत्सुक, खुला हुआ, चौकन्ना, आत्मीय। जो लिखा जा रहा है, उसे उसी समय जानने, सराहने, समझने, सहमत या

असहमत होने के लिए उत्सुक। यह सुख हिन्दी आचार्यों को कम ही नसीब होता है। इसके लिए 'दुनियादारी' छोड़कर कठिन रास्तों का चुनाव करना पड़ता है। प्रेमशंकर ने यह चुनाव किया।

'पहाड़ी पर बच्चा' कविता संग्रह की पहली कविता 'कविता संसार' वस्तुत: प्रेमशंकर का आत्मकथ्य है :

> जानता हूँ कविता नहीं है प्रश्नों का पूरा उत्तर
> पर हर बार आया हूँ, इसी के पास
> जैसे समुद्र में विराम पाती है नदी
> थका-हारा बच्चा चाहता है, माँ की गोद।
> आँखों में तैरता अबोला जल
> कुछ मायने नहीं रखता पत्थर के लिए
> गिरे, गिरने दो······
> उसने तो देखी है झमाझम वर्षा
> नहाया, जी भर नहाया, पर अँकुआया नहीं।

'वसंत' कविता पढ़कर निराला याद आते हैं—"अभी न होगा मेरा अंत/अभी-अभी ही तो आया है/मेरे मन में मृदुल वसंत !" यही वसंत प्रेमशंकर के लिए मन की मुक्ति का प्रतीक है। "इतिहास में मेरा अनाम हस्ताक्षर है तुम मुझे जीवित रहने से नहीं रोक सकते/नये-नये रूपों में हर बार आऊँगा/सुगंध बरसाऊँगा/मैं जिन्दा हूँ सृष्टि में फैली/अपनी नयी-नयी सन्तानों में/जिनकी आँखों में काल के सपने हैं/मैं वसंत हूँ, मरूँगा नहीं।" 'हम न मरैं मरिहै संसारा'—से भिन्न इस संकल्प की व्याप्ति को अपने समय के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। यह वसंत अपने निहितार्थ उस लोकदृष्टि में छिपाये हुए है जिसने प्रेमशंकर की रचनात्मक संवेदना को विस्तार दिया है। 'निर्झर सिर्फ गायब हो गया है, मरा नहीं है/वह जीवित है/पास की बोलती चट्टानों में/बनखण्डी के फैलाव में/धरती की सिहरन और/चरवाहों की लोकधुन में !"

वस्तुत: प्रेमशंकर की लोकोन्मुख चेतना ही उन्हें मध्यकालीन काव्य की सामाजिक या सांस्कृतिक-समाजशास्त्रीय व्याख्या की ओर ले जाती है, वहीं उन्हे कथाकारों में प्रेमचन्द की ओर ले जाती है, नागार्जुन और हरिशंकर परसाई तक ले जाती है, नयी कविता की लोकधर्मी अंतर्वस्तु तक ले जाती है। प्रेमशंकर ने समय-समय पर जो विषय चुने हैं उन्हीं से इस लोक दृष्टि की व्याप्ति का अनुमान किया जा सकता है। प्रेमशंकर ने तथ्यों की सटीकता का निषेध नहीं किया है, तर्क और विश्लेषण का रास्ता नहीं छोड़ा है पर यह सब करने के लिए उन्होने भीतर की रचनात्मक/सजगता को अवरुद्ध नहीं होने दिया। आचार्य हजारीप्रसाद

द्विवेदी की तरह उनके लिए भी मनुष्य ही साहित्य का सर्वोपरि लक्ष्य है यही कारण है कि वे भक्ति काव्य के लोकोन्मुख मानवीय आधार को ही अधिक महत्व देते हैं।

मुक्तिबोध की तरह प्रेमशंकर भी मानते हैं कि कोई कृति विचारधारा से जुड़ी हो या घोषित रूप में न भी जुड़ी हो, इस विश्लेषण की माँग जरूर करती है कि उसका अपने समय और परिवेश से क्या रिश्ता है। कितना सहज और कितना द्वन्द्वात्मक। ज़ाहिर है यह विचार करने के लिए कृति के भीतरी और बाहरी दोनों संसारों के द्वन्द्व से गुजरना पड़ता है। आलोचना के पाठक जानते हैं कि जहाँ इस द्वन्द्व का अहसास नहीं है वहाँ वह सपाट और अपठनीय है—एक ऐसा उत्पादन—जिसे हम ठीक-ठाक तर्कसंगत वस्तुपरक पाकर भी अनुत्तेजित रह जाते हैं। प्रेमशंकर व्याख्या और विश्लेषण करते हुए भी रचनात्मक उत्तेजना बनाये रखते हैं। यही वह जगह है जहाँ से उनके कवि और चिन्तक रूप की समशीलता को हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

प्रेमशंकर ने रचना को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करते हुए टिप्पणी की है—"रचना एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है, स्वीकृति और निषेध से निर्मित। रचनाकार समकालीनता की परतों को, जटिलताओं को देखता-समझता है और उसे संवेदन क्षमता से अभिव्यक्ति देता है ताकि रचना को प्रामाणिकता-विश्वसनीयता मिल सके। इसके आगे जाकर अपने समय से असंतुष्ट एक सचेत रचनाकार कई बार चुनौती भी देता है, एक प्रति-संसार रचता है जिसे लोग उसका दिवास्वप्न करके जानते हैं।" अपने समय के मर्म में प्रवेश करके ही प्रेमशंकर आज की रचनाशीलता के स्रोत तक जाना चाहते हैं। तभी यह सभव हुआ है कि भक्तियुग के सूर तुलसी जैसे क्लासिकी कवि भी उनके लिए एक समकालीन सार्थकता पा सके—किसी स्तर पर समकालीन हो सके। यहाँ उन्हें दुहरे तनाव से गुजरना पड़ा है। एक यह कि काल की दूरी मिट न जाय; साथ ही संवेदना एक कालखंड से दूसरे कालखंड तक सहज संक्रमित हो सके! क्योंकि आखिर मनुष्य के मूल राग-विराग एक नैरन्तर्य में अपनी सत्ता बनाये रहते हैं। ज़ाहिर है इस प्रसंग में मुक्तिबोध के कवि स्वभाव का द्वन्द्व प्रेमशंकर को आकृष्ट करता है जिसे 'विरुद्धों के सामंजस्य' का कोई सचेत अंतर्मार्ग निकालना पड़ता है। यह एक आधुनिक लेखक चिन्तक की अनिवार्य नियति है। मुक्तिबोध की ट्रैजेडी थी—कुछ इस तरह की :

> पिस गया वह भीतरी
> औ, बाहरी दो कठिन पाटों बीच
> ऐसी ट्रैजेडी है नीच

और वह मुक्तिबोध जैसो की ही हो सकती थी। प्रेमशंकर जानते हैं कि

फिलहाल छदमवेशी दलबदल' नयी रचना के घर मे प्रवेश कर गया है और बस कुछ अपवाद सरीखे लेखक हैं जो जीवन संघर्ष और रचना संघर्ष से गुजरने का धीरज दिखाते हैं। नये-नये आन्दोलनों का बुखार किसी भी दिन उतर जाने वाला है। टिकेंगे वे, जिनके पास अपना बड़ा अनुभव है और जोखिम उठाने का साहस भी। प्रेमशंकर की दृष्टि में यह साफ है—कि "जो रचना जितने बड़े खतरे उठाती है इतिहास में उसके हस्ताक्षर भी उतने ही वजनदार होते हैं।" शायद खतरे भी वे ही उठाते हैं जिनके पास कोई 'विजन' है। रचनादृष्टि। जीवनदृष्टि। और एक अर्थ में विश्व दृष्टि। प्रेमशकर मानते हैं कि अगर रचना अपनी जातीय संवेदना का, सीधे शब्दों में अपनी गहरी भारतीयता का प्रमाण नहीं देती तो उसका सारा ढाँचा महज काव्याडम्बर है। अगर रचना जीवन की ऊष्मा से, ताप से सम्पन्न है तो वह अपने समय और परिवेश का आभास तो कराएगी ही। उनकी दृष्टि मे रचना अपने समय से टकराकर जन्म लेती है पर वृहत्तर काल में फैलना चाहती है। उदाहरण है भक्तिकाव्य—जो मध्यकालीन भारतीय समाज की सीमाओ को अतिक्रमित करता है और एक वैकल्पिक संसार या एक प्रति-संसार रचने में सक्षम जान पड़ता है।

प्रेमशंकर ने भक्तिकाव्य की लोकोन्मुखता-जनचेतना पर विचार करते हुए अपने ही इस सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं की है—कि 'सर्जन प्रक्रिया संश्लिष्ट होती है और उसकी सही समझ के लिए गहरे उतरना होता हैं क्योंकि मिहितार्थ ऊपर-ऊपर नहीं तैरते। कई बार संकेत से, व्यंजना से बहुत कुछ कहा जाता है।" ग्रामीण समाज और नागर समाज के द्वन्द्व को जिस रूप में प्रेमशंकर ने विचार-णीय माना है उसे प्रतीकात्मक या लाक्षणिक रूप में ही कृष्णकाव्य की चरित्र परिकल्पना या कथा-संरचना पर घटाया जा सकता है। आखिर प्रेमशंकर तो स्वयं ही मानते है कि "रचना का समाजशास्त्र एकपक्षीय नहीं होता और उसका वैविध्य उसकी रचनात्मक ऊर्जा को प्रमाणित करता है।" वे मानते हैं कि रचना के सदर्भ में महत्त्वपूर्ण है वह जीवन—जो खंड-खंड रूप में नहीं आता—समग्रता मे आता है। इसी रचनागत बहुस्तरीयता को ज़ेहन में रखते हुए प्रेमशंकर कहते हैं :

"भक्तिकाव्य ने जीवन से साक्षात्कार करते हुए, केवल विवरण मात्र से सन्तोष कर लिया होता तो संभवतः वह अपने समय से आगे न बढ़ पाता। पर उसका एक पक्ष है समय से मुठभेड़, तीव्र असंतोष का भाव और दूसरा है विकल्प की तलाश।" इसी विकल्प की तलाश की प्रक्रिया में, जैसी प्रेमशंकर की मान्यता है, तुलसी-सूर जैसे भक्त कवितयों ने अपने चरित-नायकों को मानवीय संलग्नता दी। जहाँ सूर राधा को दार्शनिक भूमिका देते हैं वहाँ उनकी सृजनशीलता का क्षरण होता है, जहाँ वे राधा को संपूर्ण मानवीयता में प्रस्तुत करते है वहाँ उनकी सृजनात्मक प्रतिभा अपने उत्कर्ष पर होती है। प्रेमशंकर लिखते हैं : "यह सूर का

मानवीय सरोकार ही है जो उन्हें सीमित जीवन-संसार के बावजूद हमें कवि से जोड़े रहता है और हम बार-बार उनसे साक्षात्कार के लिए विवश होते हैं। सूर ने मध्यकालीन सामन्ती परिवेश के विलासी जीवन को लगभग नकारते हुए भक्ति को उदात्त प्रवृत्तिमार्गी मोड़ दिया ताकि सामान्यजन उसमे शामिल हो सके और जाहिर है कि गहरी मानवीय संलग्नता से उन्होंने इस कार्य को पूरा किया।"

साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में प्रेमशंकर ने भक्तिकाव्य के साथ मुख्यत: स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा और प्रसाद का मूल्याकन किया है पर व्यापक अर्थ मे वे हिन्दी साहित्य की जातीय चेतना और सांस्कृतिक अस्मिता के निर्धारण मे रुचि लेते रहे है। उनके निर्णय प्रायः पाठक को संवाद के लिए मुक्त रखते है। उदाहरण के लिए जब वे प्रेमचंद को पहला राजनीतिक लेखक कहते हैं तो यह स्वीकार करते हुए कि प्रेमचंद ने अपने साहित्यिक संघर्ष के क्रम में अग्रगामी राजनीतिक दृष्टि प्राप्त की। प्रेमशंकर अपने एक विश्लेषण में लिखते हैं— "सामाजिक गत्यात्मकता के बीच से भारतीय राजनीति को प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में प्रक्षेपित किया है और हम इस क्षेत्र में उन्हें पहला राजनीतिक लेखक भी कह सकते हैं। उनकी इस समझ में निरन्तर विकास हुआ है और आरम्भ की सुधारवादी दृष्टि राजनीतिक यथार्थ को अधिक सही ढंग से विवेचित कर पाती है।" प्रेमशंकर के इस कथन में एक सहज अन्तर्विरोध है। सामान्यतः समझा जाता है कि आरम्भ की सुधारवादी दृष्टि राजनीतिक यथार्थ की व्याख्या करने में अक्षम है—सिद्धान्त के स्तर पर भी और व्यावहारिक चित्रण की दिशा में भी। प्रेमशंकर मानते हैं कि गांधीवादी युग के संदर्भ में निर्मित दृष्टि अप्रासंगिक नहीं है। उस युग के राजनीतिक यथार्थ की व्याख्या करते हुए उस दृष्टि की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रत्यक्ष है कि आलोचना में प्रेमशंकर उपयोगितावादी नहीं है जो तथ्य की कीमत पर पूर्वग्रह को प्रतिष्ठा दें। एक लेखक के लम्बे समय के संस्कार (वर्ग-सस्कार ही नहीं) उसकी रचना-यात्रा को किन-किन मोड़ों पर किन-किन रूपो मे प्रभावित करते हैं, यह जाँचने के लिए एक तटस्थ संतुलित विवेक प्रेमशंकर के पास है। उनकी आलोचना सन्दर्भो को काटकर वांछित निष्कर्षो को स्थापित करने वाली, दूसरे शब्दों में फतवे देने वाली नहीं है।

प्रतिबद्धता और तटस्थता दोनों प्रेमशंकर जैसे आलोचक के निर्माण में सहायक प्रमुख गुण अथवा मूल्य हैं। दो विरोधी प्रतीत होने वाले गुणों अथवा मूल्यो का एक ही आलोचनात्मक व्यक्तित्व में और उसके आलोचनात्मक कर्म मे समावेश—प्रेमशंकर की आलोचना इसी विशेषता से स्फूर्ति पाती है। प्रेमशंकर की आलोचना पर शास्त्र का कोई आतंक नहीं है। वह जीवन से स्फूर्ति पाने वाली आलोचना है। रचना और जीवन कई बार उनके लिए पर्याय सरीखे हैं यद्यपि

दोनों में जो अनिवार्य द्वन्द्व-चक्र चलता रहता है प्रेमशंकर उसकी उपेक्षा नहीं करते।

अन्त में यह सवाल पूछने की सार्थकता हो सकती है—क्या प्रेमशंकर की आलोचना उन्हीं की कवि-दृष्टि का विस्तार है। क्या प्रेमशंकर की कविता में उनका चिन्तक-आलोचनात्मक व्यक्तित्व हस्तक्षेप करता है। दोनों स्थितियों में हम किन नतीजों पर पहुँचते हैं। उनके दो व्यक्तित्व-रूपों के द्वन्द्व की क्या हम ऐसी व्याख्या कर सकते हैं कि उनकी 'भारतीय चेतना' की भी ठीक-ठीक पहचान बन सके। उल्लेखनीय है कि प्रख्यात कवि त्रिलोचन ने 'पहाड़ी पर बच्चा' संग्रह के 'वाग्द्वार' में प्रेमशंकर को भारतीय चेतना का कवि कहा है।

उपर्युक्त प्रश्नों के संदर्भ में पहली बात यह है कि प्रेमशंकर ने कवि-कर्म के रूप में भी अपनी आलोचनात्मक विचारधारा की थाह ली है और उसका परीक्षण किया है जिसे प्रकारान्तर से रचनाकार का अन्तःपरीक्षण कह सकते हैं। क्योंकि वे रचना को एक विकासात्मक प्रक्रिया मानते हैं जो समय, जीवन, विचारधारा के साथ अग्रसर होती है। इसलिए इसमें सन्देह ही क्या कि उनका कवि-व्यक्तित्व आलोचक-व्यक्तित्व के निर्माण में और आलोचनात्मक संघर्ष काव्यात्मक मानस के निर्माण में सहायक है। दोनों मनुष्य को महत्व देते हैं। दोनों लोकजीवन, लोक-संस्कृति, लोकचेतना के प्रति निरन्तर उन्मुख हैं और यह उन्मुखता उन्हें स्फूर्ति देती है। भारतीय समाज के ऐतिहासिक विकास और परिवर्तन के क्रम में ही प्रेमशंकर इसके लिए चिन्तित हैं कि भारतीय साहित्य की भारतीयता निर्विवाद रूप से प्रमाणित होनी चाहिए। और हमारे समय के लेखकों को ही तय करना चाहिए कि आधुनिक दृष्टि के साथ इस भारतीयता का क्या ऐसा रिश्ता बन पाया है जो हमारी रचनात्मक संवेदना को पुष्ट करे और हमारे समय के प्रश्नों पर प्रकाश डाले और उनके उत्तर खोजने की दिशा में भी रास्ता दिखा सके। प्रेमशंकर के मन में यह स्पष्ट है कि कविता प्रश्नों का पूरा उत्तर नहीं है इसलिए वे कविता के बाहर की विधाओं के जरिए और कविता के बाहर के यथार्थ के अध्ययन-विश्लेषण के जरिए युग के प्रश्नों के सटीक उत्तर पाने के लिए तत्पर हैं। उनके लिए रचना एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है और विधाओं का ऊपरी भेद बहुत अर्थ नहीं रखता। प्रेमशंकर के इस कथन से शायद ही किसी को असहमति होगी। "शब्द कहीं से भी पाये जा सकते हैं पर उनका विन्यास जातीय परम्परा को निभाते हुए होता है।" पर वे यह तो मानेंगे ही कि जातीय परम्परा में रचे-बसे शब्दों की ताकत पहचानने वाले लेखक हिन्दी में कम होते जा रहे हैं। कितने लेखक या समीक्षक हैं जो त्रिलोचन जैसे कवि के यहाँ जातीय परम्परा में रची-बसी भाषा के ठाठ को समझ और सराह सकें। प्रेमशंकर ने अवश्य ही अपने भीतर वह मूल जीवन-रस बचा रखा है, वह ठेठ संवेदना बचा रखी है जिसके बल पर

वे तुलसीदास और प्रेमचन्द का फर्क ही नहीं, समानताएँ भी लक्ष्य कर पाते हैं।

प्रेमशंकर की कविता और आलोचना से गुजरने के अनुभव को व्यक्त करने के लिए ब्रेख्त से अधिक उपयुक्त शब्द मेरे पास नहीं हैं—"जहाँ तक साहित्य रूपों का सवाल है हमें यथार्थ के बारे में ही सवाल पूछने चाहिए, सौन्दर्यशास्त्र के बारे में नहीं, यथार्थवाद के सौन्दर्यशास्त्र के बारे में भी नहीं। सच को छिपाने के अनेक रास्ते हैं। सच की अभिव्यक्ति के रास्ते भी अनेक हैं। हमें संघर्ष की जरूरतों से ही अपनी नैतिकता की तरह अपना सौन्दर्यशास्त्र प्राप्त करना चाहिए।"

ध्रुवों के मध्य सत्य की खोज

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

जो प्राध्यापक/अनुसन्धानकर्ता अनवरत अध्ययन में निमग्न रहता है, अनवरत लेखन में, उसके लिए कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वह किसी पद पर है या नहीं है। यह तो ठीक है कि भारत जैसे पिछड़े हुए पूँजीवादी देश में उच्च पदस्थ व्यक्ति को, अपने और अपनों को जमाने और एक प्रभाव-क्षेत्र बनाने में सुविधा रहती है किन्तु ज्ञानसाधना और लेखन सामर्थ्य के बिना, जोड़तोड़ काम नहीं आते या यों कहें कि एक बार जम जाने के बाद यदि व्यक्ति में शक्ति है, साधना है तो वह सेवामुक्त हो जाने के बाद भी साहित्य और शोध के क्षेत्र में प्रासंगिक बना रहता है और उसके काम की कद्र होती है। डॉ० प्रेमशंकर में यह शक्ति और कार्यनिष्ठा है, अतएव उनके साठ वर्ष के हो जाने और पदमुक्त हो जाने से, वस्तुतः उन्हें अब यह सुविधा हो गई है कि वह विश्वविद्यालयीय जीवन में अपरिहार्य-ईर्ष्या-द्वेष-जन्य कुत्सित राजनीति के कीचड़ से आज़ाद होकर, पूर्ण निश्चिन्तता के साथ साहित्य की परख और विवेचना में लगें जो कि उनके स्वभाव और संकल्प के अनुकूल है, स्वभावे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

मुझे प्रो० प्रेमशंकर का स्नेह, आदर, स्वीकृति और प्रीति-पहचान, शुरू से ही प्राप्त रही है। वह मूलतः बड़े संवेदनशील, बल्कि भावुक व्यक्ति हैं, उनमें इस भावात्मक तरलता के साथ, स्वचेतना (सेल्फ कान्शसनेस) भी बहुत है जो हर उस आदमी में होती है जो अपनी शक्ति, योग्यता और सम्भावना के प्रति जागरूक होता है। जब ऐसे आत्मचेतस तथा योग्य व्यक्ति को कोई चुनौती देता है, उसे नीची निगाह से देखता है, उसके किए को नकारता है, उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करता है तो ऐसा स्वाभिमानी इन्सान उस संघर्ष को स्वीकारता है, और जवाब देता है। अतः प्रेम के साथ-साथ प्रेमशंकर जी में जो स्वभावगत शंकरत्व है, उसके उत्तेजित हो जाने पर वह प्रतिकारात्मक भी हो सकते हैं और उस मूड में उनकी लीला दर्शनीय होती है। उस मनःस्थिति में आमना-सामना की हालत में प्रतिपक्ष को बख्शते नहीं हैं और स्वपक्ष की पुष्टि के लिए विधिवत और पूरी कार्यनीति

(टैक्टिक्स) के साथ तैयारी कर मैदान में डटे रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनके प्रेम में भीतरी गिरी तो है ही, गुठली भी है, सख्त और अभेद्य। अतएव वह प्रेमशंकर नाम को सार्थक करते हैं। नाम का बड़ा महत्व होता है। नाम का प्रभाव व्यक्तित्व पर अज्ञात रूप से पड़ता है। शायद इसीलिए कहा गया है : राम ते अधिक राम कर नामा।

मैं आचार्य प्रेमशंकर के बिल्कुल नजदीक, भोपाल में, एक परिसंवाद के समय आया जब हम दोनों, धनंजय वर्मा (अब डाक्टर) के निवास पर ठहरे थे। प्रेमशंकर अपने सत्य को ध्रुवीकृत मतों या विचारधाराओं में नहीं पाते, अत: ध्रुवीकृत ध्येय वालों के मध्य वह अपने को पीछे कर लेते हैं और इस कार्यनीति या स्वभावज व्यवहार से लाभ यह होता है कि वह परस्पर विरोधी ध्रुवों वाले व्यक्तियो : विचारधाराओं के मध्य, समान रूप से स्वीकृत और गण्यमान, बन जाते हैं। अपने साथियों के साथ उनका जो भी रुख हो किन्तु साहित्य और विचारधारा तथा समाज मे वह कभी भी सीधी मार के मध्य नहीं आते, अपना अलग मोर्चा नही बनाते किन्तु वह न अपना मत छुपाते हैं, न संकल्प (स्टैंड)। वह ध्रुवीकृत धुरन्धरो की सराहना करते दीख सकते हैं, किन्तु किसी ध्रुवीकृत (पोलराइज्ड) अभिमत या विचारवाद को नहीं मानते। अत: उनकीपुस्तकों में यदि एक ओर आधुनिकता पर लिखा गया है तो दूसरी ओर वह नागार्जुन की कविताओं के अंश गुनगुनाते पाए जाते हैं। उन्होंने कई प्रगतिशीलों के बनाने, उन्हें चमकाने में मदद की है, यह बात दूसरी है कि जिन्हें उन्होंने सहारा दिया वे अपनी स्वयंशीलता या खुदपसन्दगी के कारण प्रेमशंकर को वह स्थान न दे पाए हों, जिसके वह हकदार हैं।

सत्य ध्रुवों पर होता है या मध्य में, यह प्रश्न तत्दर्शन का है किन्तु जो स्पष्ट है, वह यह है कि परिवर्तन और यथास्थितिशीलता की शक्तियों, संगठनो, व्यवहारों में ध्रुवीकरण होता अवश्य है, क्योंकि ध्रुवीकरण के बिना परिवर्तन होता नहीं और उसे रोकने के लिए प्रतिक्रियावादी तथा यथास्थितिशील संगठन अति की सीमा पर पहुँचकर उग्र और आक्रामक हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि सत्य चाहे मध्य-स्थित हो किन्तु उसको चरितार्थ करने के लिए ध्रुवीकृत होना पड़ता है। किन्तु प्रेमशंकर ने, अपनी सहज संवेदना और व्यावहारिक (प्रैगमैटिक) सूझ और सामान्य ज्ञान के बल पर साफ देख लिया था कि सत्य न केवल मध्य मे है बल्कि मन्द और मुलायम व्यवहार से ही ध्रुवों की धुन्ध और धधक से बचकर, मध्यस्थिति सत्य का साक्षात्कार सम्भव है। मैं समझता हूँ कि प्रेमशकर के कृतित्व व्यक्तित्व : व्यवहार का यही रहस्य है। यदि यह सत्य है तो इस दृष्टि से आप प्रेमशंकर की सभी पुस्तकों में प्रकाशित उनके ज्ञान और व्याख्याओं की मध्यमार्गी मौलिकता को समझ सकते हैं। मसलन जब वह लिखते हैं तो उनके मस्तिष्क-सयन्त्र कम्प्यूटर मे ध्रुवीकृत अभिमत रहते हैं और वे उनमें से प्रत्येक का

आंशिक समर्थन करते हैं किन्तु उनके बीच अपना रास्ता बना लेते हैं, अत: आधुनिकता पर उनकी व्याख्या में अतिवादी अभिमत नहीं मिलेंगे। उन्होंने आधुनिकता को न तो साम्यवादी प्रगतिशीलता का पर्याय बताया है, न अज्ञेय की आधुनिकता और परम्परावाद को पूर्ण समर्थन दिया है। अपने श्रद्धेय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के प्रति पूर्ण भक्तिभाव के बावजूद, प्रेमशंकर जी ने अपना मार्ग अलग बनाया है। इसी तरह प्रेमशंकर ध्रुवीकृत डॉ० रामविलास शर्मा और हम सब साम्यवादियों के प्रशंसक हैं, अंशत: पक्षधर भी हैं किन्तु इससे विद्यानिवास मिश्र, अशोक वाजपेयी आदि गैर प्रगतिशीलों से उनका मतभेद नहीं हुआ, न उन्होंने उनके विरुद्ध लेखन में तीखी टिप्पणियां कीं, तथापि वह उनसे पूर्ण सहमत भी नहीं हुए, अत. उनकी आधुनिकता तथा प्रगतिशीलता प्रेमशंकरीय है।

भक्तिकाल पर प्रेमशंकर की कई पुस्तकें हैं, उसका समाजशास्त्रीय अध्ययन भी उन्होंने करना चाहा है किन्तु यहाँ भी वह ध्रुवीकृत बहसों की जलकुम्भी और शैवाल को, नम्रता और शिष्टता के साथ हटाते हुए अपनी व्याख्या की नैय्या को, मध्यवर्ती मार्ग से सुरक्षित निकाल ले गए हैं। यह जो प्रेमशंकर की अपनी दृष्टि और एप्रोच है, यही उन्हें औरों से भिन्न करती है, इसी से उनकी विशिष्ट पहचान बनती है। यही उनकी मौलिकता है और यही शायद सीमा भी क्योंकि वह मूलपरिवर्तनकारिणी चेतनाप्रवाह के उद्वेलन के प्रतीक नहीं बनते।

ग्राम्शी ने दो प्रकार के बौद्धिक बताए हैं, परम्परागत पाण्डित्य संरक्षक तथा परिवर्तनकारी। प्रेमशंकर में इन दोनों के गुण हैं। किन्तु वे अपने में एक अलग कोटि या श्रेणी बनाते हैं। यह उपलब्धि मामूली नहीं है। इसके लिए परस्पर विपरीत प्रभावों से परिचय होते हुए, उनसे अपने को कुछ दूरी पर रखकर, उनमे से वरेण्य का चयन किया जाता है। प्रेमशंकर इस चयन बुद्धि में निपुण हैं और फिर भी वह चयनवादी (एक्लिक्टिक) नहीं हैं। कारण यह है कि प्रेमशंकर, मानववादी (ह्यूमनिस्ट) परम्परा के अध्ययनकर्ता हैं जो सर्वत्र मानवीय सारतत्व खोजते हैं।

अब इस मानववादी परम्परा या मध्यमार्गी प्रवृत्ति के अपने अन्तर्विरोध हैं। उदाहरण के लिए प्रेमशंकर जैसे व्याख्याकार की उत्पत्ति के लिए यह जरूरी है कि ध्रुवीकृत पद्धतियाँ और पहुंच (एप्रोचिज) पहले से विद्यमान हों। यदि वे नही हैं तो मध्य का रास्ता किस तरह खोजा जाएगा? अतएव प्रेमशंकर जो बुद्धिमत्ता (विजडम) का मार्ग अपनाते हैं, चयन-चतुराई का मार्ग, वह स्वयंसिद्ध नहीं है, वह ध्रुवों की विद्यमानता पर निर्भर है। प्रेमशंकर को यह संयोगवश सुअवसर मिला कि जब वे साहित्य पर लिखने के लिए सक्रिय हुए तो ध्रुव के और धुरन्धर लोग, जोर-शोर और सहजोरी के साथ, अपने-अपने विचार प्रवाह का प्रचार कर रहे थे। प्रेमशंकर ने इन प्रवाहों में से कुछ प्रिय धाराएँ चुन लीं और अपनी धारा

बनाकर वह उस प्रवाह मे तैरते गए। जाहिर है कि यह जो मध्यवर्ती चिन्तन प्रवाह होता है उसमें तेजी नहीं होती, परन्तु उसमें सन्तुलन अधिक होता है। प्रेमशंकर के विचार और व्यवहार में ये ही मूल्य पाए जाते हैं अत: वे प्रत्येक महत्वपूर्ण और मूल्यवान व्यक्ति/कृति/प्रवृत्ति की सराहना से शुरू करते हैं किन्तु उसकी नोकों – मारकताओं-अतिवादी वैधकताओं (एंग्यूलरिटीज+एक्सट्रीम्स) को वह छोड़ देते हैं और जो उन्हें सन्तुलित और स्वीकार्य लगता है, उसे वह गठिया लेते हैं।

प्रेमशंकर ने मध्यकालीन, आधुनिक और समकालीन साहित्य पर काफी लिखा है किन्तु यह उनकी मध्यमार्गीय बुद्धिमत्ता ही है, जिसके बल पर उन्होने समकालीन विद्रोही-क्रान्तिकारी-निषेधवादी (निहिलिस्ट) और व्यवस्था विरोधी सृजन तथा चिन्तन की ज्यादितियों को अस्वीकार करके उसके भीतर जो मानवीय दृष्टि से सुसंगत और संवेदनमय लगा है, उसे स्वीकार कर लिया है। अत. वह आधुनिक भी हैं, नहीं भी हैं, वह प्रगतिशील भी हैं, नहीं भी हैं, वह समकालीन हैं भी और नहीं भी। उन्हें किसी एक कोटि में, एक शिविर में, एक धारणा मे, एक ध्रुव में, एक मतवाद में बाँधा नहीं जा सकता। वह वस्तुत: अपने हैं और अपनी नजर के हैं, अपने नुक्त-ए-नज़र के, अतएव उन्हें वही पसन्द कर सकता है जो उनकी इस मध्यस्थता को महत्व दे सके, वर्ना न वह किसी से बँधे हैं और न उन्हें बाँधा जा सकता है, बाँधो तो वह बड़ी नरमी से निकल जाते हैं। वह खतरनाक क्षेत्र में प्रवेश नही करते और ध्रुवीकृत होना अपने को खतरे में डालना है। अत: प्रेमशंकर सदा शान्त सन्तुलित रहे हैं।

साहित्य में शायद ही कोई ऐसा विषय हो, कोई कृति, कोई लेखक, कोई आलोचक, जिस पर प्रेमशंकर ने अभिमत प्रकट न किया हो। वह नवीन से नवीन प्रकाशनों को छूते, सूँघते, टटोलते और तौलते रहते हैं, उनका उल्लेख करते हैं, उन्होंने उन्हें पढ़ा है यह वह साबित करते हैं। वह मध्यस्थ रहते हैं पर वह तटस्थ कहीं नहीं हैं। वह जिनसे प्रसन्न हैं जो उन्हें पसन्द हैं, उनकी प्रशंसा करते हैं, इतनी कि व्यक्ति पानी-पानी हो जाय और यदि वह किसी से मर्माघात पा गए है तो प्रेमशंकर "न दैन्यं न पलायनम्" की रीति पर चलते हैं और उनकी मार और प्रहार के बाँकेपन का कोई जवाब नहीं होता। वह अक्षम्य को क्षमा नहीं करते और क्षम्य के प्रति अक्षम्य-व्यवहार नहीं करते। वह प्रेम के प्रवाह में बहते-बहाते वक्त भी, यह अहसास जगाते हैं कि उन्हें कोई 'फार ग्रांटेड' के रूप में नही ले सकता। वह प्रशंसनीय और निन्दनीय को पहचानते हैं और सर्वत्र अपनी प्रियताएँ अप्रियताएँ व्यक्त करते हैं, उनमें घुन्नापन नहीं है, न महज मुन्नापन।

प्रेमशंकर का स्नायुमण्डल और काया, सुकुमार है अत: यह ख्याल रखना पड़ता है कि उनकी शिराएँ आघातित न हों। चूँकि वह प्रभावों के प्रति संवेदन-

शील है अपने भाव सक्षम स्नायुमण्डल के कारण नमनीय नसों के कारण अतएव वह सोचते समय तरलित भी होते है, तरंगित भी। इसलिए वह रचनात्मक काय भी करते हैं। उनकी कविताओं में बुनावट और बनावट कम है किन्तु उनमें अहसास की सरसराहट है और उनकी रचनाएँ एक खास ढंग का भावपरक प्रति-ध्वनन—'वायब्रे शन्स' पैदा करती है और उनमें विन्यस्त बोध जनोन्मुख और इसलिए प्रगतिशील प्रकार का होता है, एक नुकीली नमी या कुछ तीखी तरलता उनकी रचनाओं में होती है और भाषा के रचाव में वे किताबीपन से बचते हैं।

प्रेमशंकर की गद्य संरचना को देखें, तो उसमें एक प्रकार की चिकनाई-स्मूथनेस मिलती है और जटिलीकरण बिल्कुल नहीं है। वह बौद्धिकता से आतंकित नहीं करते, उलझे हुए को सुलझाकर, खुरदरे को सोच के रिन्दे से रेत कर, उसे सचिक्कण कर पेश करते हैं। उनकी शैली में आवेग और धूमिलता या धुन्ध नहीं है किन्तु उनके कथ्य में वर्ण्य वस्तु या विषय के बोध की पकड़ अवश्य है। उनके वाक्यों की सिधाई, गैरसंकुलता और अनिविड़ता, प्रेमशंकर के सोचविचार के सीधेपन और पारदर्शिता का प्रमाण है। व्यक्ति को उसकी वाक्यसंरचना से पह-चाना जा सकता है और प्रेमशंकर की वाक्य रचना असंकुल है, समगति वाली है, वह विषम-विकट और वर्तुलाकार (काम्प्लीकेटेड) नहीं है। उसमें बाढ़ गुजर जाने के बाद की प्रशान्ति और निर्मलता तथा प्रसन्नता है।

प्रेमशंकर ने काफी लिखा है और अभी लिख रहे हैं। दरअसल, अभी तक तो मँजाई हुई है, अब तो लिखा जाएगा, उसमें परिपक्वता-प्रौढ़ता तथा आर-पारपन होगा। तथापि अब तक का जो उनका आलोचनात्मक योगदान है, उसका मूल्यांकन होना ही चाहिए। प्रेमशंकर हिन्दी की—अग्रिम पंक्ति के साहित्यविद् शिक्षकों और आलोचकों-अनुसन्धानकर्ताओं में से हैं। वह शताधिक वर्षों तक जिएँ, जिलाएँ और वह लिखें जो लिखना चाहते हैं।
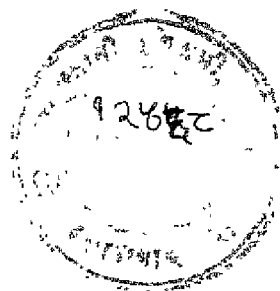
रचना और समाज

आनन्दप्रकाश दीक्षित

प्रेमशंकर कवि हैं और काव्य-समीक्षक भी। साहित्य की अन्य विधाओं पर उन्होंने कम लिखा है। काव्य में भी हिन्दी का आदिकालीन, रीतिकालीन काव्य उनके दृष्टिपथ में नहीं है। सन् 1987 ई० में प्रकाशित 'सृजन और समीक्षा' उनके विचारात्मक निबंधों का संग्रह है, जिसमें सर्जना और समीक्षा के विविध पक्षों पर सैद्धांतिक विचार किया गया है। प्रेमशंकर की चिन्ता के मुख्यत: तीन बिन्दु हैं : (1) कवि, (2) काव्य और (3) समाज। उनकी समीक्षा इन तीनों के आपसी रिश्तों को समझने-सुलझाने का ही यत्न है।

अपनी समीक्षा-यात्रा के प्रथम पदन्यास में वे कवि-विषयक उन धारणाओं को दुहराते हैं जिनका मेल या तो प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित उसकी अलौकिक क्षमता से है या जिन्हें रूमानी कवि-आलोचकों की मान्यता प्राप्त है। अपनी प्रथम कृति 'प्रसाद का काव्य' में वे कवि को 'विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न' कहते हैं। इन सबका सम्बन्ध कवि की आन्तरिक रचनात्मक क्षमता से है और ये भारतीय पक्ष से लगभग उन्हीं धारणाओं को व्यक्त करते हैं जिन्हें 'कविर्मनीषी परिभू:स्वयंभू' तथा 'कारयित्री प्रतिभा' जैसी उक्तियों में निहित असाधारणता-सूचक शब्दावली व्यक्त करती है। इन सबसे अलग हटकर जब वे उसे यहीं 'जीवन का व्याख्याकार' भी कहते हैं तब पहली बार कवि के सामाजिक सरोकार या दायित्व को भी रेखांकित कर रहे होते हैं। भक्तिकाव्य, हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य से लेकर नयी कविता तक का विवेचन करते हुए प्रेमशंकर इसे ध्यान में रखते हैं।

भावना या अनुभूति जैसा कि प्रेमशंकर वर्ड्स्वर्थ को गवाह बनाते हुए कहते हैं, 'कवि की शक्ति है, जिसके अभाव में वह एक चरण भी नहीं चल सकता।' पर व्यक्तिगत होकर यदि वह केवल अन्तर्मुखीन जगत् तक सीमित रह जाती है, तो वह व्यापक जीवन के सम्पर्क से भी वंचित रह जाती है। बाह्य जीवन को अभिव्यक्ति नहीं दे पाती। समर्थ और संवेदनशील कवियों की बात और है। प्रेमशंकर के अपने शब्दों में, "कवि जीवन का व्याख्याकार है। वह संसार से प्रेरणा

ग्रहण करता है। आन्तरिक और बाह्य दोनों ही पक्षों पर उसका ध्यान रहता है और वह उन्हें साथ लेकर चलता है। आंतरिक अनुभूति से कवि की व्यक्तिगत भावना का अधिक सम्बन्ध होता है।···बाह्य पक्ष से समाज तथा काल का अधिक सम्बन्ध रहता है, किन्तु अन्तर्मुखी होते हुए भी कवि समाज की अवहेलना नहीं कर पाता। देश-काल का स्वर उसके स्वाभाविक संगीत में स्थान पाता है। वह अपने युग का प्रतिबिम्ब होता है।"[1]

सच तो यह है कि जीवन कवि की प्रेरणा-भूमि है, और भावनाएँ उसके सर्जन-कर्म की अन्तर्वृत्ति। जीवन के व्यापक क्षेत्र से गृहीत घटनाओं आदि को कवि अपनी (निजी नहीं) भावना का विषय बनाता है। भावना का विषय बन जाने पर ही वे घटनाएं आदि काव्य में अभिव्यक्ति पाने योग्य होती हैं। इसलिए 'भावनाओं की अभिव्यक्ति' और 'जीवन का व्याख्याकार' कहने में कोई अन्तर्विरोध नही है। यह स्थिति वस्तुतः परस्पर विरोधी न बन जाय, इसके लिए कवि को साव-धान रहना और प्रयत्न करना पड़ता है। प्रेमशंकर कवि के सामने उपस्थित इस कठिनाई को समझते हैं। कठिनाई कई प्रकार की है। एक तो 'जीवन की व्याख्या' शब्द-व्यवस्था के परे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के साथ-साथ देश तथा काल के संदर्भों की माँग करती है और दूसरे, कविता सामान्यतः स्वभाव से अन्तर्मुखी होती है और उसमें सूक्ष्म मनोभावों और आंतरिक वृत्तियों के चित्रण के कारण बाह्य वृत्तियों के प्रकाशन का अवसर अपेक्षाकृत कम रहता है। तीसरे, कवि को थोड़ी-सी भूमि में एक विस्तृत नाटक का आयोजन करना पड़ता है। भावना और शब्दों के बल पर वह यह काम करता है। वह न देश-काल की अवहेलना कर सकता है, न विस्तृत व्याख्या ही उसके लिए सभव है। इस प्रकार अन्तर और बाह्य के सम्मिलन से प्रेरणा लेकर कविता को जन्म देने वाले कलाकार के सम्मुख अनेक समस्याएं हैं।[2] इन्हीं समस्याओं को देखते, इन पर विजय पा लेने वाले अन्तः-बाह्य पक्ष का सर्वांग सम्पूर्ण भावात्मक प्रकाशन करने वाले काव्य को प्रेमशंकर 'सुन्दर काव्य' का अभिधान देते हैं, अन्यथा काव्य तो एकांगी प्रकाशन में भी है।

'जीवन' शब्द का अर्थगत फैलाव इतना अधिक है कि उसे केवल घटना या चरित्र की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। उसकी व्याप्ति देश, काल, परिवेश, परिस्थिति, चिन्तन, संस्कृति, सभ्यता, सिद्धान्त, आदर्श, यथार्थ आदि के साथ-साथ मनुष्य के मनोजगत् से लेकर सम्पूर्ण बाह्य-जगत् और चराचर सृष्टि तक है और उसकी व्याख्या मनुष्य को इन सब सन्दर्भों में रखकर देखने और उसके कर्म के ही नहीं उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्देश से पूरी होती है। स्पष्ट ही यह काम कठिन ही नहीं जटिल और कसाले का भी है। रचना-कर्म इसीलिए एक साधना है, जिसमें प्रतिभा और परिश्रम दोनों का योग रहता है, रचनाकार से जितना कल्पना-बल

और अभिव्यक्ति सामथ्य अपेक्षित है उतना ही उससे निरीक्षण शक्ति और ग्रहण सयोजना-सामथ्य की भी अपेक्षा बनी रहती है। स्रष्टा होने के लिए, उसके पूर्व उसका दृष्टा होना वांछित है। इसी दृष्टा के माध्यम से रचना में देश-काल-परम्परादि का सन्निवेश होता है। कभी यह सन्निवेश प्रत्यक्ष रहकर रचना मे विवरण के रूप में होता है और कभी परोक्ष और सांकेतिक रूप में प्रतिफलित होता है। प्रबंधात्मक रचनाओं में दोनों की ही आकांक्षा रहती है, भले ही कवि-कर्म की गरिमा उसकी संकेत-गर्भता में ही विशेष होती है।

रचना और रचनाकार की द्वैत स्थिति के कारण रचना-कर्म के विषय मे कई प्रकार के प्रश्न उद्भूत होते हैं। रचना में देश-काल-परिस्थिति का क्या योगदान है? किसी रचना के रूप धारण करने में परम्परा और पृष्ठभूमि का क्या हाथ रहता है? रचनाकार का अपना व्यक्तित्व रचना में कहाँ तक या कितना प्रतिच्छवित हुआ है? वह रचना को किस रूप में प्रभावित करता है? आदि प्रश्न इसी सीमा में आते हैं। समीक्षक इन जिज्ञासाओं के सहारे रचना के अन्तरंग की पहचान और मूलार्थ की पकड़ करता है तथा उस मूलार्थ और उसकी अभिव्यक्ति के कौशलों का संधान करता हुआ उसकी सफलता-असफलता, श्रेष्ठता-हीनता को मापता और भाँपता है।

प्रेमशंकर, इसीलिए रचना के और रचनाकार के सन्दर्भ में परम्परा तथा पृष्ठभूमि का अपनी समीक्षा में आरम्भ से ही उपयोग करते आ रहे हैं। उनकी यह तलाश समीक्षा में घुली-मिली है, अनेक शोधकर्ताओं की तरह अलग-थलग नहीं। यह तलाश उन्हें रचना-विशेष के मूल में उन कारणों पर अंगुली रखने में सहायता करती है जिन कारणों ने किसी रचना को जन्म दिया है और जो उनके रूप-गठन मे सहायक हुए हैं। इस तलाश की सहायता से वे रचनाकार के मानव तक अपनी पहुच करते हैं।

परम्परा और पृष्ठभूमि के आपसी सहयोग और रचनाशीलता में उनकी उप-योगिता की दृष्टि से तुलसीदास के सन्दर्भ में प्रस्तुत उनका यह कथन द्रष्टव्य है, "परम्परा को विवेक दृष्टि से देखना, उसे जागृत चेतना से पुनर्निमित करना, समर्थ और सार्थक कवि द्वारा ही संभव है। इस दृष्टि से तुलसी ने धर्म, अध्यात्म, शास्त्र, वाङ्मय आदि से जो कुछ प्राप्त किया, उसे अपने अनुभव-जगत् का एक हिस्सा बनाया, उसे जीवन से जोड़ा और अपनी सार्थक सर्जनशीलता के सहारे उसे एक नया व्यक्तित्व दे दिया। तुलसी को मध्यकाल के पूरे माहौल में रखकर देखने पर ही उसकी सही समझ हो सकती है।"[3] इसके विपरीत प्रसाद की स्थिति कुछ भिन्न और कुछ सीमा तक जटिल है। वह इसलिए कि "प्रसाद प्राचीन परि-पाटी और स्वच्छन्दतावाद के संगम रूप में हिन्दी में प्रतिष्ठित हैं।" और तथ्य यह है कि "यद्यपि उन्होंने काव्य की किसी परम्परा अथवा परिपाटी विशेष का

नुसरण नही किया किन्तु उन पर काव्य की उस परम्परा की छाया अवश्य है जो रस को आत्मा मानकर चलती है। वास्तव में उन्होंने आरम्भ में महाकवियों से प्रेरणा ग्रहण की और अन्त में एक महाकलाकार की भांति उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व सम्मुख आया।"[4]

प्रसाद स्वच्छन्दतावादी कवियों में परिगणित हैं, परन्तु स्वच्छन्दतावाद का प्रमुख तत्व 'विद्रोह' जिसके लिए 'निराला' प्रसिद्ध हैं उनकी रचनाओं से गायब है। "प्रसाद का प्रवेश एक विद्रोही कलाकार के रूप में नहीं हुआ। उन्होंने प्रचलित परम्परा के प्रति कोई आन्दोलन नहीं चलाया। उन्होंने अपनी कृतियों से काव्य की सच्ची परम्परा को आगे बढ़ाया।" प्रसाद और निराला के बीच अन्तर वस्तुत यह है कि "जहाँ प्रसाद ने छायावाद को भारतीय चिन्तनधारा का स्वाभाविक विकास कहकर विवेचित किया था, वहाँ निराला ने उसके सांस्कृतिक सन्दर्भों की तलाश की और उसे भारतीय नवजागरण से जोड़ा।"[5]

तात्पर्य यह कि कवियों में परम्परा-निर्वाह की भिन्न स्थितियाँ हो सकती हैं। कोई परम्परा का अन्ध अनुसर्त्ता हो सकता है, जो रूढ़ होकर जड़ और पिछलग्गू मात्र बना रह जाता है। कवि होते हुए भी इसका कोई दीर्घकालीन, यहाँ तक कि कभी-कभी तात्कालिक तक, प्रभाव नहीं होता। दूसरी ओर वे कवि हैं जो तुलसी के समान परम्परा को इस हद तक आत्मसात कर लेते हैं कि उनकी प्रतिभा के प्रकाश मे वह नये रूप में आलोकित और प्रकाशित हो उठती है। तीसरे, वे कवि हैं जो प्रसाद की तरह उसकी छाया मात्र ग्रहण करते हैं, उसका सम्पूर्ण अनुसरण नही करते, और अन्ततः वे कवि भी होते हैं जो परम्परा को त्याग देते अथवा उसके विरुद्ध विद्रोह करते हैं।

परम्परा के समान ही पृष्ठभूमि का विचार भी आवश्यक है। बल्कि पृष्ठभूमि का उपयोग कृतियों के समीक्षा-इतिवृत्त की जानकारी के रूप में भी किया जाना चाहिए। किसी कृति पर की गई समीक्षाओं से जो परिवेश तैयार होता है, उस कृति का मूल्यांकन करते समय उसका उपयोग करके रचना या/और समीक्षा की सीमाओं और उपलब्धियों का पता लगाया जा सकता है। इसलिए प्रेमशंकर सर्जना के सन्दर्भ में तो पृष्ठभूमि की जानकारी को उपयोगी पाते और उस पर बल देते ही हैं,[6] 'कामायनी' पर समीक्षात्मक विचार व्यक्त करने के पूर्व "संक्षेप में समीक्षा के उस इतिवृत्त को भी देख लेना चाहते हैं जो इस काव्य के इर्द-गिर्द उठता-गिरता हो।" पृष्ठभूमि का सम्बन्ध रचनाकार के भावजगत् से है अतएव सर्जना मे उसका महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसी बात को लक्षित करते हुए प्रेमशंकर जैसे आधुनिक काल या उसके रचनाकारों के सम्बन्ध में पृष्ठभूमि की जानकारी को आवश्यक मानते हैं, वैसे ही वे भक्ति-काव्य और भक्ति आन्दोलन को भी क्रमशः मध्यकाल की भक्ति-चेतना के व्यापक प्रसार और "उस समय की सामाजिक

चेतना तथा ऐतिहासिक सन्दर्भों मे रखकर देखना चाहते है पृष्ठभूमि की आवश्यक जानकारी की बात तो अब सर्वमान्य है ही, प्रेमशंकर रचनाकार के व्यक्तित्व और चरित्र की उपयोगिता-अनुपयोगिता पर भी विचार करते हैं। वे कवि के जीवन को उसकी कृतियों में परोक्षतः व्यक्त मानते हैं और उससे परिचित होना 'काव्य के पूर्ण रसास्वादन के लिए' आवश्यक मानते हैं।

'कामायनी' को लेकर प्रेमशंकर का मत है कि उसमें "प्रसाद की वैयक्तिक अनुभूतियाँ भी सक्रिय रही हैं" भले ही "उन्हें खोज लेना आसान नहीं है।" वह उनके "सम्पूर्ण व्यक्तित्व के प्रतिफल की चेष्टा है" और "यदि मनोवैज्ञानिक स्तर पर सोचा जाय तो प्रसाद काव्य-संयोजन अथवा चरित्र-सृष्टि के अवसर पर भी 'कामायनी' में इतना तटस्थ नहीं हो पाये हैं कि उन्हें पूर्णतया आत्ममुक्त कहा जा सके।"[8] इसी प्रकार गीत-सृष्टि जैसी साहित्यिक विधा-विशेष की तो यह अनिवार्यता भी है कि उसमें कवि सम्पूर्णतया अनुपस्थित नहीं रह पाता।[9] वैयक्तिक अनुभूति के अनुप्रवेश से 'कामायनी' में गीतात्मकता और प्रबन्ध शैथिल्य आ गया है। अभिप्राय यह कि रचनाकार का जीवनानुभव और व्यक्तित्व उसकी रचना मे प्रतिफलित होता है, उसकी वैयक्तिक अनुभूतियाँ सक्रिय रहती हैं और वह पूर्णतया आत्ममुक्त या तटस्थ नहीं हो पाता। सृजन-प्रक्रिया को देखते हुए कहा जा सकता है कि "रचनात्मक साहित्यकार, विशेषतया कवि संवेदनशील प्राणी है और पूर्ण तटस्थ, निरपेक्ष होना उसके लिए किंचित् कठिन है।"[10] वह किसी तथ्य या सत्य को 'अपनी चेतना में आत्मसात्' करके उसे 'रागात्मक' या 'रस-सम्पन्न' ही नहीं बनाता अपितु उसकी 'अपनी शक्ति के अनुसार' गृहीत "सामाजिक चित्र को प्रस्तुत करने की विधि में अन्तर हो जाता है।"[11] रचनाकार के व्यक्तित्व के प्रतिफलन को इतनी दूर तक स्वीकार करके भी प्रेमशंकर उसकी तटस्थता की मांग करते हैं और मुक्तिबोध से, इस सम्बन्ध में अपनी असहमति व्यक्त करते हैं कि प्रसाद और मनु में चरित्र-साम्य है।

तुलसी की रचनाओं में बिखरे पड़े उनकी जीवनी के संकेतों से वे उनके 'सामाजिक-वैयक्तिक परिवेश का खाका' बना सकने की सम्भावना अवश्य अनुभव करते हैं और रामकाव्य और तुलसी के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए वे 'मध्यकालीन सामाजिक परिवेश' की समझ को उनकी जीवनी की समझ पर वरीयता देते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि, "सार्थक रचनाकार अपनी कृतियों में व्यक्तिगत रूप से प्रायः अनुपस्थित ही रहना चाहता है और अपनी निजी दुनिया को प्रक्षेपित नहीं करता, क्योंकि वह सामाजिक-सांस्कृतिक आशय से परिचालित होता है और व्यापक अनुभव को अपने रचना-संसार में बसाना चाहता है।"[12]

जीवन का प्रवेश और फिर भी उसके रचनाकार का अनुपस्थित रह जाना क्या है ? यह कैसे सम्भव होता है ? व्यापक अर्थ में जीवन समस्त व्यापार-जगत्

को अपने मे समेट कर चलता है, किन्तु रचनाकार के सन्दभ मे वह उन घटनाओ तथा व्यापारों तक सीमित रहता है जिनसे व्यक्ति-विशेष के चरित्र-गठन मे सहायता मिलती है, उसकी पहचान बनती है। रचनाकार का जीवन उसकी रचना मे आता है, इसका आशय यही है कि उसकी रचना या अभिव्यक्ति में उसके जीवन की घटनाओं का ब्यौरा नहीं बल्कि समग्रता में उनसे रचित उसके स्वभाव या चरित्र की विशेषताओं, जैसे अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह, संघर्षशीलता, निराशा-वादिता आदि की छाया दीख पड़ती है। वस्तु में भी और शिल्प में भी। वह आत्मकथा नही लिखा करता और न ही वह तात्कालिक प्रतिक्रियाएं ही व्यक्त करता है। उसकी वैयक्तिकता उसकी अन्तर्मुखता का रूप धारण करके व्यक्त होती है। आत्मगतता ही वैयक्तिकता है। अतएव निर्वैयक्तिकता के लिए इस आत्मगतता अथवा अन्तर्मुखता से मुक्ति चाहिए। निराला और प्रसाद दोनों ही जीवन के अधिवक्ता हैं। दोनों ने व्यापक जीवन को अपने काव्य में संजोया है। दोनों की अपनी-अपनी अभिव्यक्तिगत विशेषताएँ हैं, जिनसे उनकी रचना अलग-अलग पहचानी जा सकती है। दोनों की रचनाओं में इस अर्थ में उनका जीवन उपस्थित है। किन्तु प्रसाद अन्तर्मुखता के कवि हैं, इसलिए भावना पक्ष अधिक प्रबल है, गीतों की आत्म-व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति मे उनका मन अधिक रमता है। यहाँ तक कि प्रबन्धकाव्य 'कामायनी' में जैसे वे कथा-विन्यास से अधिक सूक्ष्म भाव-व्यंजना पर ध्यान देते हैं वैसे ही प्रबन्ध की सघनता को तोड़कर उनकी गीतिधारा प्रवाहित होती है। इसके विपरीत निराला बहिर्मुखता के कवि है, अतएव आत्मगतता तथा वैयक्तिकता की जगह उनके काव्य में सामाजिकता का निर्वाह अधिक होता है। इसी अर्थ में वे 'निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व' के कवि है। यही होना रचना में सार्थक रूप से व्यक्तिगत रूप का अनुपस्थित होना है। इस अर्थ मे ही निराला में प्रसाद की अपेक्षा तटस्थता अधिक है।

वैयक्तिकता से तटस्थता की आवश्यकता, प्रेमशंकर के अनुसार, एक तो इस-लिए है कि काव्य से उन्नयन की सिद्धि हो सके, और दूसरे इसलिए कि वैसा होने से रचनाकार को व्यापक अनुभव को अपने रचनासंसार में बसाने का अवसर प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में इस तटस्थता का परिणाम दो मुख्य दिशाओं में दिखाई देता है, उन दिशाओं में जिनको भारतीय चिन्तन ने प्राचीन काल से ही काम्य माना है। काव्य से उदात्तता की सिद्धि और साधारणीकरण, दोनों हमारे यहा के आचार्य-वर्ग द्वारा स्वीकृत होते आये हैं। तटस्थता को इस हद तक स्वीकार करना कि रचना सृष्टि न रहकर केवल अनुकृत वस्तु मात्र प्रतीत होने लगे और रचनाकार की अपनी पृथक् सोच, अपनी दृष्टि या अपने वस्तु-विन्यास अथवा शब्द-विन्यास का कुछ भी पता न चले, रचना के, और उसी तरह रचनाकार के भी हित में नहीं है। वैसा होने से उसकी रचनाशीलता, उसकी सर्जन-क्षमता को

अभिव्यक्ति नहीं मिलती। इसी सर्जनशीलता का महत्व समझते हुए अरस्तू ने प्लेट के द्वारा प्रतिपादित साहित्य के हीनता-भाव के विरुद्ध रचना को 'अनुकृति' कहकर यह लक्षित कराया था कि वह किसी का अनुकरण नहीं, सृष्ट या दृष्ट की पुनर्सृष्टि है, उससे अलग स्वतन्त्र व्यक्तित्वशालिनी है। आनन्दवर्धन ने भी 'यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते' कहकर इसी सत्य को वाणी दी।

रचना में उसके रचयिता के व्यक्तित्व की उपस्थिति का अर्थ भी यही है कि रचनाकार की रचनाशीलता या सर्जन-क्षमता का प्रमाण मिलता रहे और पाठक को यह अहसास हो सके कि यही बात यदि किसी अन्य कवि या लेखक ने कही होती तो उसका यही रंग न होता। व्यक्तित्व का अर्थ चरित्र नहीं है, और न राग-द्वेष-सम्पन्न वैयक्तिकता ही है। तटस्थता या पूर्ण निरपेक्षता की आवश्यकता है, तो इन्हीं से। इसी स्थिति को प्रेमशंकर ने निराला के सन्दर्भ में 'निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व' कहा है और 'रचनाशील व्यक्तित्व' को 'सृजन और समीक्षा' में महत्वपूर्ण बताया है। विवरणों में उलझने वाले कवियों को वे 'साधारण लेखक' मानते हैं क्योंकि उससे उनकी स्वतन्त्र रचनाशीलता का संकेत नहीं मिलता। इसे वे 'मध्यकालीन पच्चीकारी,' 'बहाव में आना' और 'व्यक्तित्व की पराजय' मानते हैं।

रचनाशीलता के अतिरिक्त एक दूसरा सन्दर्भ प्रेमशंकर की चिन्ता का विषय है—समीक्षा। यदि रचना में सर्जक के व्यक्तित्व का योगदान महत्वपूर्ण माना जाता है तो समीक्षक के लिए यह स्वाभाविक है कि वह किसी रचनाकार के साहित्य के परीक्षण में उसका कितना और किस प्रकार लाभ ले। इतना तो स्पष्ट है ही कि रचनाकार का व्यक्तित्व रचना में परोक्ष रूप से उपस्थित होता है, अत उसे घटना-पात्रादि के संयोजन-कौशल, पात्रों के चरित्र के प्रतिरूपण आदि में बड़ी सावधानी से ही खोजा जा सकता है और पात्रों या पात्र-विशेष के साथ रचनाकार के व्यक्तित्व को एकाकार करके देखने की भूल तो करनी ही नहीं चाहिए। किन्तु 'सृजन और समीक्षा' में यह और स्पष्ट कर दिया गया है कि व्यक्तित्व के नाम पर लेखक के जीवन चरित्र को ही रचना के परीक्षण का आधार बना लेना भी उचित नही है। रचना केवल चरित्र या व्यक्तित्व का संपुंजन नहीं है, उसमें सर्जन क्षमता या रचनाशीलता का सद्भाव ही उसे 'रचना' या 'सृष्टि' होने का गौरव देती है, अतएव लेखक के चरित्र से अभिभूत होकर किसी लेखन को उत्कृष्ट या निकृष्ट, सुन्दर या असुन्दर कहना समीक्षक के लिए उचित नहीं है। प्रेमशंकर यह बात बहुत स्पष्ट शब्दों में और सोदाहरण समझाते हुए कहते हैं: "लेखक का जीवन उसके साहित्य से विलग नहीं किया जा सकता।···किन्तु जब हम किसी साहित्य की परीक्षा करेंगे तब हमें यह ध्यान में रखना होगा कहीं हम लेखक के जीवन चरित से अभिभूत न हो जाएं। कॉडवेल गृहयुद्ध में न मरकर यदि रोग-शय्या पर ही समाप्त हुआ होता तो भी छोटी अवस्था में साहित्य को अपनी तलस्पर्शिनी

दृष्टि से देखने वाले उस प्रतिबद्ध समीक्षक का महत्व कम न हो जाता।"[13]

प्रेमशंकर को यह आपत्तिजनक नहीं प्रतीत होता, कि लेखक नेतृत्व को समाज में अधिक स्वीकृति प्राप्त हो, जैसा कि गोर्की और माओ को साम्यवादी देशों में पूजा जाता है। किन्तु यह बात उन्हें स्वीकार्य नहीं है कि "साहित्य की अपेक्षा लेखक के नेतृत्व को अधिक महत्व दिया जाय।" इस विषय में वे साहित्य के पक्षधर हैं और साहित्य को उसी के मानदण्ड से नापने के पक्षपाती हैं। पर वे साहित्य को समाज-निरपेक्ष और उससे सर्वथा स्वतन्त्र या रचनाकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति मानने के अर्थ में नहीं स्वीकार करते। अपने मंतव्य को निर्भ्रान्त शब्दो मे व्यक्त करते हुए वे कहते हैं: "चरित्र व्यक्तिगत पूंजी है जबकि साहित्य एक सामाजिक सम्पत्ति है। साहित्यकार का कृतित्व समाज के लिए उसके सामाजिक रोल से कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसी कारण साहित्य की परीक्षा साहित्यिक मूल्यो के आधार पर करना उचित है, जो इस बात को ध्यान में रखकर बनाए जाय कि समाज को साहित्य में अभिव्यक्ति देने की सृजन-प्रक्रिया का वास्तविक स्वरूप क्या है।"[14] उद्धरण का अन्तिम वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य है क्योंकि वह साहित्यिक मूल्यों के निर्धारण का एक सुनिश्चित आधार प्रस्तुत करता है और समाज और साहित्य के रिश्ते को सृजन-प्रक्रिया के सन्दर्भ में स्वीकार करता है।

रचना के परीक्षण के समानान्तर महत्वपूर्ण प्रश्न उसकी प्रेषणीयता का है। अपने कर्ता से चलकर रचना पाठक तक पहुंचती है। जो रचना पाठक तक नही पहुचती वह काल के पृष्ठों में कहीं खो जाती है, निरन्तर प्रवाहशील नही रह पाती अर्थात् जीवित नहीं रहती। रचना के कालजयी होने के लिए रचनाकार से भी कुछ अपेक्षाएं हैं। वैयक्तिकता अथवा निजी राग-द्वेष से मुक्ति उन अपेक्षाओ मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। निजता का एक दूसरा रूप है जिससे मुक्ति उतनी ही अभीष्ट है जितनी निजी राग-द्वेष से। निःसंदेह सार्वजनिक स्वीकृति रचना की श्रेष्ठता की कसौटी नहीं है, कलात्मकता का निकष नहीं है, पर विशिष्टता के बोझ से दबकर अभिव्यक्ति को ऐसा बना लेना/देना कि उसकी समझ के लिए अतिविशिष्ट पाठक की खोज करनी पड़े और सहृदय-सामान्य उससे वंचित रह जाय, यह भी श्रेष्ठता का कोई माप नहीं है और रचना को हानि पहुंचाता है।

वस्तुतः यह एक ऐसा मुद्दा है जिस पर मतभेद की सम्भावनाएं हैं और विवाद अनिर्णय की स्थिति तक तन सकता है। भवभूति और अज्ञेय उक्त धारणा के विपक्ष में हैं। विशेषतः अज्ञेय अपने समानधर्मा के मात्र एक होने या देश मे न होकर कहीं विदेश में होने तक से सन्तुष्ट हैं और प्रेमशंकर का लक्ष्य भी कदाचित् वही है। प्रेमशंकर के निकट रचनात्मक व्यक्तित्व को 'पायेदार' बनाना अपेक्षित नहीं है पर उसे अपने 'अहं' में 'जिन्दगी से काटते चले जाना' अवश्य अवांछित है। "बिना अहं का विलयन किये, धार-धार बहे, यह व्यक्तित्व नहीं बन सकेगा

ऐसा मैं मानता हूं। बार-बार यह सोचना कि लेखक के रूप में विशिष्ट प्रतिभावान हू, क्रमशः स्वयं को ज़िन्दगी से काटते चले जाना है। अहं के उग्र रूप धारण करने से रचना में पच्चीकारी बढ़ती है। उसकी सहजता धीरे-धीरे मरने लगती है और रचनाकार अपने पाठकों से दूर होता जाता है।"[15] इस अहं से मुक्ति का मार्ग क्या है? प्रेमशंकर की दृष्टि में सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिबद्धता ही वह मार्ग है। उसके अभाव में "रचना में उसकी सार्थकता संदेहास्पद ही मानी जाएगी।"

समाज की बात करते-करते अब हम ऐसे स्थल पर आ गये हैं जहाँ से एक रास्ता उस ओर जाता है जहाँ एक विशिष्ट दर्शन या विचारधारा के प्रति आत्म-समर्पण की स्थिति में आ जाना सम्भावित है। प्रेमशंकर का लगाव उस विचार-धारा से है, इसमें सन्देह की आवश्यकता नहीं। फिर भी, उनके वक्तव्य इस बात को प्रमाणित करते हैं कि उनका पक्ष आत्मसमर्पण का पक्ष नहीं है। समाज-चर्चा की यह दिशा समाजशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में खुलती है और अनेक बार ऐसा लगता है कि सर्जना पर समाजशास्त्रीय मन्तव्यों का आरोपण किसी कृति का मूल्यांकन करके जिन निष्कर्षों पर पहुँचता है, वह मूल कृति और उसके रचयिता के आशय के मेल में नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि रचना की सफलता-असफलता का निर्णायक समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को माना जाय या रचना और रचयिता के मूल उद्दृष्टि को आधार रूप में ग्रहण किया जाय? प्रेमशकर आरम्भ से ही रचना और रचयिता के मूल उद्दृष्टि की अवहेलना के पक्ष में नही रहे हैं और इसलिए स्वाभाविक है कि वे समाजशास्त्रीय अध्ययन की सीमा स्वीकार करते हुए ऐसे अध्ययनों से अधिक तटस्थ विवेचन की मांग करते हैं। 'कामायनी' के समाजशास्त्रीय अध्ययन के सन्दर्भ में उनका कथन है कि : "किसी भी कृति का समाजशास्त्रीय विवेचन एक उपादेय अध्ययन बन सकता है, बशर्ते किसी शास्त्र को उस पर अतिरिक्त आरोपित न कर दिया जाय।"[16]

स्पष्ट है कि प्रेमशंकर संकीर्ण समाजशास्त्रीय अध्ययन को साहित्य के परीक्षण मे लाभकर नहीं पाते, उसमें सुधार की आकांक्षा रखते हैं। यह सुधार उन्हें सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन की ओर ले जाता है जिसका उल्लेख वे भिन्न प्रसगो मे करते चलते हैं: भक्तिकाव्य से लेकर नयी कविता और नयी समीक्षा तक। रचना से प्रतिबद्धता की माँग वे अनिवार्य रूप से करते हैं और आज के प्रचार, प्रकाशन और प्रसारण के व्यावसायिक साधनों की दुनिया में उसे आवश्यक मानते हैं। "पर प्रतिबद्धता सांस्कृतिक होनी चाहिए, सृजन से जुड़ी हुई, रचनात्मक। उसे हर प्रकार के दबाव का सामना निर्भीकता और साहस से करना चाहिए।"[17] विचारधारा या दर्शन अथवा सम्प्रदाय-विशेष के प्रति प्रतिबद्धता और उसी के आधार पर किसी रचना का सर्जन या समीक्षण उन्हें स्वीकार्य नहीं है। उनकी अवहेलना वे नहीं करते, पर उन्हें अतिरिक्त अधिकार देने के पक्ष में भी नहीं हैं।

अतिरिक्त महत्व दे देने के कारण ही निर्गुणिया सन्तों के आक्रोशी स्वर में कुछ विद्वानों को सामाजिक चेतना दीखने लगती है, किन्तु उदार मानवतावादी निर्गुण भक्तिकाव्य में उस स्वर के सुनाई न पड़ने के कारण उन्हें उसमें सन्निहित सांस्कृतिक समन्वय के तत्वों की सक्रियता का अनुमान भी नहीं होता। प्रेमशंकर इस स्थिति को 'अधूरा साक्षात्कार' की संज्ञा देते हैं। वैचारिक, दार्शनिक निष्पत्तियों को सर्जनशीलता के सन्दर्भ में वे एक सीमा तक ही स्वीकार करते हैं। उनकी स्पष्टोक्ति है: 'सर्जनशीलता एक ही सीमा तक वैचारिक, दार्शनिक निष्पत्तियों को स्वीकारती है पर जहां वे उस पर अतिरिक्त अंकुश लगाए हुए दीखते हैं वहां सच्ची सर्जनशील मानवीयता विद्रोह करती है।'[18]

वैचारिक या दार्शनिक अंकुश को वे अस्वीकार करते हैं, बल्कि 'सृजन और समीक्षा' तक पहुंचते-पहुंचते तो वे इस प्रकार की स्थिति को स्पष्ट शब्दों में साहित्य के लिए 'भयावह स्थिति' मानने लगते हैं। साहित्य में इनकी स्थिति हो, यह हो सकता है, पर साहित्य इन्हीं का अनुगामी हो और उसकी सर्जनात्मकता इनके प्रभाव में दब-ढंक जाय, यह स्थिति काम्य नहीं है। काम्य यह है कि 'काव्य में कोई भी दर्शन विलयित होकर ही प्रवेश पाये। ऐसा इसलिए क्योंकि कवि काव्य का सृष्टा है, दार्शनिक नहीं या दर्शन ग्रन्थ का रचयिता नहीं है। उसे पहले अपना मूल कर्म निबाहना है। 'जब किसी साम्प्रदायिक अथवा अन्य कारण से हम दर्शन के सिद्धान्तों के प्रमाण रूप में काव्य की पंक्तियां उद्धृत करने लगते है तब यह पूछना स्वाभाविक हो जाता है कि 'तो क्या सूर पहले वल्लभ सम्प्रदाय के व्याख्याता हैं और कवि बाद में ?'[19] वस्तुतः चाहे सूर हों चाहे तुलसी या कबीर 'सच्चाई यह है कि किसी प्रभाव में होकर भी सार्थक सर्जनशील प्रतिभाएं सम्प्रदाय की सीमाओं में बंधी नहीं रह सकतीं, वे अपनी रचनाशीलता की अभिव्यक्ति के मार्ग खोज ही लेती हैं।'[20] दूसरे शब्दों में, 'सार्थक रचना साम्प्रदायिक अनुबन्ध नहीं होती, तथा कई बार वह अपनी ही बनाई हुई सीमाओं का निषेध भी कर जाती है। इसीलिए तुलसी विद्वानों को असमंजस में डाल देते हैं अद्वैत-द्वैत आदि को लेकर।'[21] भक्ति-काव्य का विस्तृत विवेचन करते हुए प्रेमशंकर इस कालजयी रचनाशीलता के मानवीय पक्ष को उजागर करते हैं: 'चरितनायकों को केन्द्र में रखकर लोकधर्म-मानवधर्म की स्थापना की गई है और उन्हें व्यक्ति-चरित्र की सीमा से बाहर लाकर सामाजिक भूमि देना, भक्तिकाव्य का उल्लेखनीय पक्ष है।'[22]

अस्तु ! साहित्य को लेकर प्रश्न और भी हैं जिनकी चिन्ता प्रेमशंकर करते हैं, परन्तु वे यहां हमारी चिन्ता का विषय नहीं हैं। यहां जितना, जो कुछ कहा गया है उस पर समग्रतया विचार करें तो यह बात सहज ही लक्षित की जा सकती है के प्रेमशंकर के विचारों में एकरूपता है और समय के साथ डग भरते हुए भी उनमें वह दृढ़ता है जो उनके विचारों को बिखराव और से बचाती

है। उन्होंने अपने चिन्तन में विकास का परिचय दिया है। दूसरे, प्रेमशंकर का साहित्यिक चिन्तन समाजवादी दृष्टि से प्रभावित है और उसमें उनकी निष्ठा क्रमश: कुछ गहरी ही हुई है, किन्तु वह दुराग्रहपूर्ण नहीं है। परिणामस्वरूप प्रेमशंकर उस दृष्टि वाले अन्य समीक्षकों से निस्संकोच अपनी असहमति भी व्यक्त करते हैं। समीक्षक के रूप में उन्होंने बार-बार अन्यान्य विद्वानों के विवेचन में 'अधूरे साक्षात्कार' का दर्शन किया भी है। काव्य-विषयक सिद्धान्त-निरूपण उनका मूल कार्य नहीं है, परन्तु एक सजग समीक्षक के नाते वे अपनी आलोचना में आधारभूमि के रूप में उनका निरूपण अवश्य करते हैं। आलोचना में उनका पक्ष रचना की जीवन-सापेक्ष स्वायत्तता का है, निरंकुश स्वातन्त्र्य का भी नहीं है और विचार, दर्शन या समाजशास्त्र आदि के आरोपण का भी नहीं है। काव्य को वे सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष से देखने के विश्वासी हैं, और रचना-विशेष को उसके मूल मंतव्य के सन्दर्भ में ही देखना पसन्द करते हैं। उसी से उसकी सफलता-असफलता का निर्णय करना चाहते हैं। कलावादियों और व्यक्तिवादियों के प्रति उनकी कोई अनुकूलता नहीं है, वैसे ही जैसे रचना में उसके रचयिता के चरित्र को ही झांकने वाले समीक्षकों या सैद्धान्तिकों से अथवा मतवाद के प्रति प्रतिबद्धतावादियों से उनकी सहमति नहीं है। प्रेमशंकर रचनात्मकता के पक्षधर हैं।

सन्दर्भ

1. प्रसाद का काव्य, पृ० 20
2. वही, पृ० 498
3. रामकाव्य और तुलसी, पृ० 52
4. प्रसाद का काव्य, पृ० 2
5. हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य, पृ० 77-78
6. वही, पृ० 197
7. भक्तिकाव्य की भूमिका, पृ० 47
8. कामायनी का रचना-संसार, पृ० 11
9. कृष्णकाव्य और सूर, पृ० 122
10. सृजन और समीक्षा, पृ० 29
11. कामायनी का रचना-संसार पृ० 4
12. रामकाव्य और तुलसी, पृ० 64
13. सृजन और समीक्षा, पृ० 34
14. वही पृ० 35
15. वही पृ० 49

16. कामायनी का रचना-संसार, पृ० 5
17. सृजन और समीक्षा, पृ० 38
18. भक्तिकाव्य की भूमिका, पृ० 146
19 कृष्णकाव्य और सूर, पृ० 85
20 रामकाव्य और तुलसी, पृ० 12
21. भक्तिकाव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना, पृ० 104-105
22 भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र, पृ० 55

प्रसाद का काव्य

रामकुमार मिश्र

छायावादी काव्य को अपने आरम्भिक वर्षों में कई प्रकार के संघर्ष झेलने पड़े। वह स्वतन्त्रता संघर्ष का समय था और प्रश्न किया जा सकता है कि हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य की उससे कौन-सी संगति स्थापित की जा सकती है। द्विवेदी युग ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली के अन्तर को पाटने का काम अवश्य किया, पर उसकी नैतिक, सुधारवादी दृष्टि के कारण रूमानी संवेदनों के लिए अधिक अवसर न था। यदि हम 1920-40 के बीच छायावाद के दशकों का काव्य मान लें तो भी रत्नाकर जैसे कवि थे जो ब्रजभाषा में काव्य-रचना कर रहे थे। काशी की कविता पर भारतेन्दु का व्यक्तित्व छाया हुआ था। इस सबके बीच जब छायावादी कविता ने नया मार्ग निकालने का प्रयत्न किया, तो उसके सामने कई कठिनाइयाँ थीं। पाठकों के लिए भी इस काव्य आन्दोलन की समझ सरल न थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे पश्चिमी रोमांटिक कविता की छाया के रूप में देखा और उसे एक नये प्रकार का रहस्यवाद कहा। जहाँ तक जयशंकर प्रसाद का सम्बन्ध है आचार्य शुक्ल ने यह अवश्य स्वीकार किया कि 'किसी एक विशाल भावना को रूप देने की ओर भी अन्त में प्रसादजी ने ध्यान दिया, जिसका परिणाम है कामायनी।' और 'कामायनी काव्य बड़ी विशद कल्पनाओं और मार्मिक उक्तियों से पूर्ण है।' धीरे-धीरे छायावादी काव्य ने स्वयं को प्रतिष्ठित किया और उसे महत्वपूर्ण कविता-आन्दोलन के रूप में स्वीकार किया गया।

'प्रसाद का काव्य' डॉ० प्रेमशंकर के शोधप्रबन्ध का पुस्तक रूप में प्रकाशन है। बीस वर्ष की आयु में उन्होंने यह कार्य आरम्भ किया था और दो वर्ष में इसे पूरा कर लिया। बीस-बाईस वर्ष की अवस्था में लिखी गयी इस पुस्तक के विषय मे डॉ० प्रेमशंकर कोई बड़ा दावा नहीं करना चाहते, इसे उन्होंने स्वयं भूमिका मे विनय भाव से स्वीकार किया है। पर भाग्य से प्रेमशंकरजी को कामायनी के रसज्ञ व्याख्याकार आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र से काशी मे कामायनी पढ़ने का अवसर मिला और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे यशस्वी गुरु निर्देशक के रूप में प्राप्त

हुए जिनसे उन्होंने बहुत कुछ सीखा। आचार्य वाजपेयी ने अपने यशस्वी गुरु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए छायावाद को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। छायावाद के विषय में आचार्य वाजपेयी की राय है कि इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी। 'जयशंकर प्रसाद' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में वाजपेयीजी प्रसाद का विवेचन करते हुए कहते हैं : "प्रसादजी तो विकासशील और उदार सामाजिक प्रवृत्तियों के निरूपक हैं। उनकी साहित्य-सृष्टि एक आशावादी और स्वातन्त्र्य-प्रभा युग की प्रतिनिधि है। साहित्यिक अर्थ में उनका साहित्य सर्वथा प्रगतिशील है।" वाजपेयीजी का यह मौलिक विवेचन है, पर इससे सहमत होने में कुछ लोगों को कठिनाई हो सकती है, और हुई भी है। पर वाजपेयी जी प्रसाद को नये युग के प्रतिनिधि कवि के रूप में देखते हैं, निराला को वैविध्य का कवि स्वीकार करते हुए भी।

जिस समय डॉ० प्रेमशंकर ने 'प्रसाद का काव्य' लिखा उस समय तक छायावाद काव्य आन्दोलन के रूप में इतिहास में मान्य था, पर उस पर आधुनिकतावाद के आक्रमण भी शुरू हो गये थे। छायावादी कवियों ने अपने व्यक्तित्व के सहारे स्वयं को स्थापित तो कर लिया था, पर उनके विषय में समीक्षा पुस्तकें इनी-गिनी ही थीं। यह भी मानने की बात है कि छायावादी कवि हिन्दी पाठ्यक्रम में पर्याप्त विलम्ब से आये। जहाँ तक हमारी जानकारी है डॉ० प्रेमशंकर का 'प्रसाद का काव्य' हिन्दी के उन प्रारम्भिक शोधकार्यों में है जो प्रसादजी को केन्द्र में रखकर लिखे गये और पुस्तक-प्रकाशन के रूप में तो संभवतः इसका नाम सर्वप्रथमों में लिया जायेगा। प्रेमशंकरजी ने अपने इस कार्य की सीमा स्वयं स्वीकार की है कि बीस-बाईस वर्ष के नवयुवक का यह विनम्र प्रयास है जहाँ कवि प्रसादजी को भीतर से जानने की चेष्टा की गयी है। डॉ० प्रेमशंकर की पुस्तक 'प्रसाद का काव्य' इतनी लोकप्रिय हुई कि इस समय इसका चौथा संशोधित संस्करण हमारे सामने है। डॉ० प्रेमशंकर ने छायावादी काव्य पर 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' जैसी प्रामाणिक पुस्तक लिखी। भक्तिकाव्य पर उनकी छः पुस्तकें हैं और नयी कविता के समीक्षकों में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। पर आज भी उनका नाम 'प्रसाद का काव्य' के प्रसिद्ध लेखक के रूप में जाना जाता है और यह उनकी ख्याति का आधार-ग्रन्थ है।

आचार्य वाजपेयी के निर्देशन में लिखी गयी इस पुस्तक पर गुरु की छाया का होना स्वाभाविक है। डॉ० प्रेमशंकर ने वाजपेयीजी के दिशा-निर्देश का भरपूर लाभ उठाया है, पर उनका विश्लेषण अपना है जो निश्चय ही सराहनीय है। जहाँ तक हमारी जानकारी है यह वाजपेयीजी के निर्देशन में किया गया प्रारम्भिक शोधप्रबन्ध है, जो प्रकाशित हुआ। 1955 में इसका प्रथम संस्करण आया और

1986 में चौथा। इस बीच डॉ० प्रेमशंकर ने पुस्तक में काफी संशोधन-परिमार्जन किया। इतना ही नहीं, इस बीच 1974 में उनकी पुस्तक 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' आयी जिसमें प्रसाद, निराला, पन्त की विस्तृत चर्चा नये ढंग से की गयी है। 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' में डॉ० प्रेमशंकर जयशंकर प्रसाद को एक विकासमान व्यक्तित्व के रूप में देखते हैं।

'प्रसाद का काव्य' के अध्याय हैं: प्रसाद साहित्य की पीठिका, प्रसाद का व्यक्तित्व, इन्दु की प्रगति, ब्रजभाषा की रचनाएँ, खड़ी बोली का प्रथम चरण, आँसू, गीतसृष्टि झरना से लहर तक, नाटकों के गीत, कामायनी का कथा-चक्र, कामायनी का चिन्तन पक्ष, कामायनी का काव्य-संसार, भारतीय काव्य और प्रसाद, पाश्चात्य काव्य और प्रसाद तथा प्रसाद काव्य की मूल चेतना आदि। नवीनतम संस्करण में 'कामायनी: आज के सन्दर्भ में' शीर्षक निबन्ध भी संकलित है। इस रूपरेखा से ज्ञात होता है कि प्रेमशंकरजी ने प्रसाद को समग्रता में विवेचित करने का प्रयत्न किया है। आरम्भ के तीन अध्यायों को हम पृष्ठभूमि के रूप मे देख सकते हैं जहाँ भारतीय नवजागरण तथा बीसवीं शताब्दी के सन्धिस्थल का सामाजिक-राजनीतिक परिवेश है। यहाँ प्रसाद के पारिवारिक वातावरण की चर्चा भी की गयी है जिसमें विशेष उल्लेखनीय शैवदर्शन है। प्रसाद की आरम्भिक रचनाएँ 'इन्दु' पत्रिका के माध्यम से आयीं और इस सामग्री को संकलित करने मे प्रेमशंकरजी ने श्रम किया है।

'काव्ययात्रा' खण्ड के अन्तर्गत ब्रजभाषा रचनाओं और खड़ी बोली के प्रथम चरण से लेकर, आँसू, लहर तथा नाटकों के गीतों को स्वतन्त्र अध्यायो मे विवेचित किया गया है। जहाँ तक ब्रजभाषा रचनाओं का प्रश्न है, प्रसाद भारतेन्दु से प्रभावित दिखायी देते हैं, विशेषतया प्रेम-कल्पना में। फिर धीरे-धीरे वे खडी बोली की ओर आते हैं और प्रेमपथिक जैसी कविता जो दोनों में ही उपलब्ध है, पहले ब्रजभाषा में रची गयी फिर स्वयं कवि ने उसका खड़ी बोली रूपान्तर प्रस्तुत किया। डॉ० प्रेमशंकर ने प्रसाद के आरम्भिक काव्य को शिथिल मानते हुए भी, उन कुछ बिन्दुओं का विशेष उल्लेख किया है, जिन्हें विकास देकर वे महत्तर ऊँचाइयों पर जा सके।

'आँसू' सम्बन्धी विवेचन 'प्रसाद का काव्य' में विशेष स्थान प्राप्त करता है। प्रेमशंकरजी ने प्रासंगिक प्रश्न उठाया है कि यह एक वैयक्तिक अनुभूति का काव्य है, पर इसका उदात्तीकरण इसे वृहत्तर संसार से जोड़ता है। इस दृष्टि से 'आँसू' के द्वितीय परिवर्धित संस्करण में 'वेदनादर्शन' की नियोजना का विशेष महत्व है: फिर उन निराश नयनों की/जिनके आँसू सूखे हैं/उस प्रलय दशा को देखा/जो चिर-वञ्चित भूखे हैं। यहाँ उन्होंने 'आँसू' को गेटे के उपन्यास 'सारोज आफ वर्थर' के समीप रखकर देखा है। ये यद्यपि दोनों अलग विधाओं में रची गयी कृतियाँ हैं—

एक कविता है, दूसरा उपन्यास, पर दोनों में वैयक्तिक अनुभूति का मार्मिक उपयोग किया गया है। यह उनकी समानता है। अपने गुरु आचार्य वाजपेयी की तरह प्रेमशंकर 'आँसू' को एक लौकिक कविता के रूप में देखते हैं, और उस पर रहस्यवादी आवरण चढ़ाने के प्रयत्न को सही नहीं मानते। डॉ० प्रेमशंकर का कथन है: "प्रसादजी का व्यक्तित्व उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों से ऊपर उठने की क्षमता रखता है। इस कृति में हम अनुभूतियो के साथ प्रसाद के व्यक्तित्व का द्वन्द्व देख पाते हैं। इस द्वन्द्व में प्रसाद के व्यक्तित्व की, उनकी अनुभूतियों पर विजय हुई है और यही विजय उनकी इस रचना को उत्कर्ष देती है।"

डॉ० प्रेमशंकर ने प्रसाद के विकासमान व्यक्तित्व को बराबर ध्यान में रखा है और 'लहर' का विवेचन करते हुए, इस तथ्य को रेखांकित किया है कि जिस स्वच्छन्द भूमि का पूर्वाभास 'झरना' में मिलता है, उसका विकास 'लहर' मे दिखायी देता है और कामायनी में कवि चरम उत्कर्ष पर पहुँचता है। 'लहर' की अपेक्षाकृत लम्बी कविताओं का विशेष विवेचन करते हुए प्रेमशंकरजी उनमें महाकाव्य की सम्भावनाएँ तक देखते है जो बात आचार्य वाजपेयी ने निराला के दीर्घ प्रगीतों तथा आख्यान रचनाओं के विषय में कही है। 'प्रलय की छाया' प्रसाद की सर्वोत्तम कविताओं में है जिसका विश्लेषण करते हुए नारी के आन्तरिक द्वन्द्व को सामने लाया गया है। गुर्जर नारी कमला जिन घात-प्रतिघातों से गुजरती है, उसका चित्रण प्रसाद ने बड़े कौशल से किया, जैसे आत्महत्या के प्रयत्न में बच जाने पर उसकी जिजीविषा : कितनी मधुर भीख माँगते हैं सब ही/अपना दल अंचल पसारकर वनराजी/माँगती हैं जीवन का बिन्दु-बिन्दु ओस-सा/क्रन्दन करता-सा जलनिधि भी/माँगता है नित्य मानों जरठ भिखारी-सा/जीवन की धारा मीठी-मीठी सरिताओं से/व्याकुल हो विश्व, अन्ध तम से भोर में ही माँगता है/जीवन की स्वर्णमयी किरणें प्रभा-भरी/जीवन ही प्यारा है. जीवन सौभाग्य है। प्रेमशंकर ने 'झरना' को गीत-सृष्टि का प्रयोग कहा है और 'लहर' को उसका उत्कर्ष।

नाटकों के गीतों का विवेचन करते हुए, 'प्रसाद का काव्य' में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि तत्कालीन रंगमंचीय प्रभावों के कारण आरम्भ में इनकी सख्या अधिक है, जैसे 'विशाख' में संवाद के लिए भी कई बार पद्य का प्रयोग किया गया है। पर धीरे-धीरे गीतों की संख्या कम होती जाती है। प्रेमशंकरजी प्रश्न उठाते हैं कि आखिर नाटकों में गीतों के प्रयोग के मूल में जयशंकर प्रसाद का प्रयोजन क्या है? उनकी मान्यता है कि नाटक, कहानी, उपन्यास कई विधाओं मे लिखते हुए भी प्रसाद का मूल संवेदन कवि का है। इसीलिए नाटकों में कल्पना की भूमिका महत्वपूर्ण है और कई बार इतिहास का अतिक्रमण तक हुआ है। संभवत. इसी कारण कुछ लोग इन्हें स्वच्छन्दतावादी अथवा रोमाण्टिक नाटक कहते हैं। प्रसाद नाटकों में गीतों के माध्यम से अपने संवेदन, अपनी भावनामयता को भी

व्यक्त करना चाहते हैं और इसीलिए प्रेम गीतों की संख्या पर्याप्त है जिसमें कई मार्मिक गीत हैं : हे लाज-भरे सौन्दर्य बता दो/मौन बने रहते हो क्यों (चन्द्रगुप्त), आह वेदना मिली विदाई (स्कन्दगुप्त), मीड़ मत खिंचे बीन के तार (अजातशत्रु) आदि। नाटकों में राष्ट्रप्रेम के भी गीत हैं, जैसे हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार (स्कन्दगुप्त), अथवा हिमाद्रि तुंग श्रृंग से/प्रबुद्ध शुद्ध भारती/स्वयंप्रभा समुज्ज्वला/स्वतन्त्रता पुकारती आदि। इस प्रकार नाटकों के गीत वैविध्य का परिचय भी देते हैं जिसमें संवेदन के साथ विचार पक्ष भी आया है जैसे अजातशत्रु, ध्रुवस्वामिनी, एक घूंट अथवा जनमेजय का नागयज्ञ नाटकों में। इस प्रकार नाटकों के गीतों का औचित्य बताया गया है।

कामायनी का विवेचन 'प्रसाद का काव्य' पुस्तक का विशेष प्रयत्न है और लेखक ने इसे तीन अध्याय दिये हैं : कामायनी का कथाचक्र, कामायनी का चिन्तन पक्ष और कामायनी का काव्य-संसार। 'कामायनी' के कथाचक्र का विवेचन करते हुए डॉ० प्रेमशंकर ने उन सूत्रों की खोज की है जिनमें से कुछ का संकेत स्वयं कवि ने काव्य की 'आमुख' भूमिका में किया है। यहाँ प्रेमशकर ने निष्ठावान शोधार्थी का परिचय दिया है। कामायनी के बिखरे कथा-सूत्रों को जोड़ने के लिए प्रसाद ने कवि-कल्पना का उपयोग किया है, इसे भी यहाँ स्वीकार किया गया है। कामायनी की कथा जलप्लावन से आरम्भ होती है, जो प्रलय-रूप है और जिसकी चर्चा सभी प्रमुख धर्मों में प्राप्त होती है। पहले धार्मिक ग्रन्थों में जलप्लावन, प्रलय कथा, 'डेल्यूज' का स्वरूप मिलता है फिर काव्य में उसका उपयोग किया गया। यूनान, बेबीलोन, बाइबिल आदि में इसका उल्लेख है और गिलगिमेश जैसा काव्य लिखा गया। भारत के प्राचीन वाङ्मय में जल प्रलय की कथा का वर्णन है और शतपथ ब्राह्मण, पुराण, महाभारत आदि कई ग्रन्थों में इसकी चर्चा है। पर डॉ० प्रेमशंकर ने प्रसाद को उद्धृत करते हुए उनके इस मन्तव्य को स्वीकार किया है जहां वे प्रलय को नये सन्दर्भ में देखते हैं : "जलप्लावन इतिहास में एक ऐसी ही घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया।" चिन्ता से आनन्द सर्ग तक के विन्यास में प्रसाद ने कथा को अपनी सर्जनशील कल्पना से संयोजित किया है। यहाँ तक कि प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त मनु, श्रद्धा, इड़ा जैसे चरित्रों को आज के सन्दर्भ में नया रूप प्रदान किया है। वास्तव मे प्रथम मनुष्य की कथा के माध्यम से प्रसाद आधुनिक युग का संकेत करना चाहते हैं, संकेत से ही सही। इसलिए कथा गौण है, आशय प्रधान।

'कामायनी का चिन्तन पक्ष' इस काव्य की दार्शनिक-वैचारिक पीठिका को समझने के लिए लिखा गया अध्याय है। यहाँ डॉ० प्रेमशंकर अपने गुरु आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के इस सूत्र को लेकर चलते हैं जहाँ उन्होंने उन लोगों का विरोध किया है जो प्रसाद को केवल भावुकता से जोड़कर देखना चाहते हैं। इसके

विपरीत वाजपेयीजी प्रसादजी को 'आधुनिक हिन्दी में वास्तववाद, वस्तुतन्त्र के प्रवर्तक' रूप में भी देखते हैं, जिससे कइयों की असहमति हो सकती है। कामायनी चिन्तन पर विचार करते हुए डॉ० प्रेमशंकर दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक पक्षों की चर्चा करते हैं, पर यह स्वीकार करते हैं कि प्रसाद ने मौलिक विश्लेषण क्षमता का परिचय दिया है। साथ ही यह प्रयत्न कि दर्शन कविता की सम्पत्ति बनकर आए। श्रद्धा कामगोत्रजा है और ऋग्वेद में उसकी चर्चा मिलती है, पर प्रसाद ने उसके चरित्र को अनेक गुणों से सम्पन्न कर, जैसे दया, माया, ममता, मधुरिमा, अगाध विश्वास आदि, उसे प्रतीकत्व दिया है। कवि का बल श्रद्धा तत्त्व, अखण्ड विश्वास-आस्था पर है जिसे वे संशयवादी युग के समाधान रूप में देखते हैं। शैव दर्शन की प्रत्यभिज्ञा शाखा से प्रसाद का परिवार घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध था और उन्होंने कामायनी के अन्तिम सर्गों में इसका उपयोग किया है: इच्छा-ज्ञान-कर्म का त्रिलोक, नटराज की उपस्थिति और अन्त में आनन्द की निष्पत्ति। डॉ० प्रेमशंकर प्रसाद की प्रवृत्तिमूलक विचारधारा को विशेष रूप से रेखांकित करना चाहते हैं, जहाँ वैराग्य को अस्वीकार किया गया है। जहाँ तक मनोविज्ञान का प्रश्न है 'कामायनी' चिन्ता से लेकर आनन्द तक के मनोविकारों को शीर्षक बनाकर रची गई है। प्रेमशंकरजी का विचार है कि यहाँ दर्शन और मनोविज्ञान के संयोजन से प्रसाद आधुनिक युग के कुछ प्रश्नों का संकेत करना चाहते हैं, जैसे अतिरिक्त बुद्धिवाद जो मूल्यहीन हो सकता है और अतिरिक्त भौतिकवाद जो विलास मे फँस जाता है। प्रसाद ने समरसता-आनन्द पर बल दिया जो जीवन की सही दिशा है। कामायनी के चिन्तन की विशेषता बताते हुए प्रेमशंकरजी कहते हैं कि प्रसाद ने दर्शन-मनोविज्ञान को काव्य के लिए उपयोगी बनाया और उनकी दृष्टि मानव-वादी कही जायेगी। प्रसाद ने अपनी व्याख्या की जैसे 'काम' के वैदिक स्वरूप की प्रतिष्ठा करते हुए उसे मानव जिजीविषा से जोड़ा और अपने काव्य को उसका शीर्षक भी दिया। इसी प्रकार नियति को भाग्यवाद से हटाकर कर्म-निर्धारण के रूप में चित्रित किया, यहाँ तक कि 'माया' को प्रेरणा शक्ति माना। प्रसाद ने चिन्तन पक्ष में अपने युग के कुछ प्रश्नों पर विचार किया और उनका समाधान भी पाना चाहा, आदर्शवादी ही सही।

'कामायनी का काव्य-संसार' अध्याय इसे कविता के रूप में मूल्यांकित करने का प्रयत्न है। यहाँ डॉ० प्रेमशंकर कुछ प्रचलित शीर्षकों का सहारा लेते हैं, जैसे भाव, कल्पना, वस्तु, प्रकृति, रस आदि। कामायनी आधुनिक युग का काव्य है जहाँ वर्णन-विवरण गौण है, संकेत प्रधान हो गए है। जैसे वे स्वीकार करते हैं कि इसकी कथा में अधिक उतार-चढ़ाव नहीं आते और वह ठहरी हुई-सी प्रतीत होती है। पर प्रसाद विस्तार की जगह गहराई से काम लेना चाहते हैं। भाव-गाम्भीर्य कामायनी का विशेष गुण है जिसे कवि ने भाषा की व्यंजना शक्ति, ध्वन्यात्मकता,

चित्रमयता तथा मूर्तिमत्ता के साथ निष्पादित किया है (प्रसाद का काव्य, नवीन तम चतुर्थ संस्करण, पृ० 348)। डॉ० प्रेमशंकर ने महाकाव्य और महान काव्य का प्रश्न कामायनी के सन्दर्भ में उठाया है और स्वीकार किया है कि दोनों समा-नार्थी नहीं हैं, जैसे रवीन्द्रनाथ अथवा निराला महाकाव्य के रचयिता नहीं, पर वे महान कवि हैं, संसार के सर्वोत्तम के समीप। प्रेमशंकरजी कामायनी को आधुनिक युग के महाकाव्य के रूप में देखते हैं जहाँ प्राचीन प्रबन्धकाव्य के विस्तृत आकार को स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं। महाकाव्य की परम्परा पर विस्तार से विचार करते हुए डॉ० प्रेमशंकर कहते हैं कि कामायनी प्रसाद के व्यक्तित्व की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है और लक्षण ग्रन्थों का अनुसरण न करती हुई भी, अपने जीवन-दर्शन काव्य सौष्ठव, मानवीय व्यापार के आधार पर महाकाव्य/महान-काव्य का पद प्राप्त करती है। वह छायावाद युग का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करती है। इस प्रकार डॉ० प्रेमशंकर ने कामायनी पर विस्तार से लिखा है और उनकी मान्यता है कि प्रसाद ने मनुष्य की प्रतिष्ठा की, क्योंकि देव-दानव अपूर्ण सभ्यताएँ है, : था एक पूजता देव दीन / दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण।

कुछ समय बाद डॉ० प्रेमशंकर ने 'प्रसाद का काव्य' के कामायनी अंश के तीन अध्यायों को किंचित नया रूप देने का प्रयत्न किया और 1977 में 'कामायनी का रचना-संसार' शीर्षक से इसका प्रकाशन भारती भण्डार प्रयाग से ही स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में हुआ। इसमें सबसे विचारणीय है 'कामायनी : आज के सन्दर्भ' शीर्षक से लिखी गई लम्बी भूमिका। यहाँ आचार्य शुक्ल, आचार्य वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, मदान से लेकर मुक्तिबोध, नामवरसिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी, डा० मेध तक चर्चा की गई है। प्रेमशंकरजी इसे इस रूप में स्वीकार करते हैं कि कामायनी एक महत्वपूर्ण कृति है और मुक्तिबोध जैसे जागरूक रचनाकार तक को ललकारती रही है। जहाँ तक हिन्दी समीक्षा में समाजशास्त्रीय विवेचन का सम्बन्ध है, वे मुक्तिबोध को सराहनीय प्रस्थान के रूप में देखते हैं, यद्यपि प्रसाद और मनु में चरित्र साम्य को स्वीकार नहीं करते। यह लम्बी भूमिका एक प्रकार से कामायनी के पुनर्मूल्यांकन का प्रयत्न है जहाँ प्रेमशंकर 'प्रसाद का काव्य' के विवेचन की अपनी ही कुछ मान्यताओं के विरोध में खड़े नजर आते हैं। शायद वे स्वयं को आत्मालोचन से गुजारते है, जैसे उनकी यह स्वीकृति कि "कामायनी का रचनाकार उस वैविध्य का दावा नहीं कर सकता जो सम्बोधन प्रायः निराला के लिए प्रयुक्त किया जाता है" (कामायनी का रचना-संसार, पृ० 11)। कामायनी में वैयक्तिक अनुभूतियों का उपयोग, कविता की स्वच्छन्दतावादी बनावट, सीमित अनुभव संसार, सांकेतिक शैली, अभिजात भाषा, अन्वय की कमी, बिखरा चिन्तन आदि की सीमाओं का उल्लेख प्रेमशंकर करते हैं। पर उनका विचार है कि

हिन्दी स्वच्छन्दतावाद-छायावाद के समापन काव्य के रूप में तो वह स्मरणीय रहेगी ही, पर उसमें कवि ने आधुनिक मूल्यों को पाने की सराहनीय चेष्टा भी की है और उसकी उपलब्धियाँ तथा सीमाएँ हैं। प्रसाद का काव्य, कामायनी का रचना-संसार के क्रम में डॉ० प्रेमशंकर की पुस्तक 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' को रखकर देखें तो पाएँगे कि उन्होंने प्रसाद को विवेचित करते हुए एक गुणात्मक विकास का परिचय भी दिया है। 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' में लगभग पैंसठ पृष्ठों में जयशंकर प्रसाद का गहन विश्लेषण किया गया है जहाँ उन्होंने कवि की 'अन्तर्मुखता' पर टिप्पणी की है। पर स्वीकार किया है कि उनका कृतित्व प्रमाणित करता है कि जिन रचनाकारों में खुद का अपना संसार बना लेने का धैर्य होता है, वे स्वच्छन्दतावाद की सीमाओं के बावजूद स्वयं को स्थापित कर लेते हैं और उन्हे नकारना सम्भव नहीं होता।"

'प्रसाद का काव्य' में दो ऐसे अध्याय है जहाँ डॉ० प्रेमशंकर ने जयशंकर प्रसाद को कविता की दीर्घ परम्परा में रखकर देखने का प्रयत्न किया है। वे दो अध्याय है: भारतीय काव्य और प्रसाद तथा पाश्चात्य काव्य और प्रसाद। सरसरी तौर पर दृष्टि डालने से ये विवेचन सम्भव है बहुत आवश्यक न लगें पर प्रेमशंकर अपने प्रिय कवि को सबके बीच रखकर देखना चाहते हैं। बतौर शोधार्थी यह उनकी महत्वाकांक्षी योजना है। संस्कृत काव्य परम्परा में आदिकवि वाल्मीकि से लेकर कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ, भवभूति, जयदेव आदि की चर्चा है जिसमें कालिदास और प्रसाद पर विशेष तुलनात्मक दृष्टि डाली गई है और उनके सौन्दर्य तथा शृंगार की समानताओं का उल्लेख किया गया है। हिन्दी में विद्यापति से लेकर भारतेन्दु तथा निराला आदि को लिया गया है। यहाँ रवीन्द्र और प्रसाद की सौन्दर्य दृष्टि का भी विवेचन है। भारतीय काव्य परम्परा में प्रसाद को रखकर देखने का यह अपने ढंग का पहला प्रयत्न है।

'पाश्चात्य काव्य और प्रसाद' अध्याय डॉ० प्रेमशंकर की अध्ययनशीलता का परिचय देता है। यहाँ होमर, दान्ते, गेटे जैसे कवियों को लिया गया है और मिल्टन, शेक्सपियर के साथ अंग्रेजी रोमाण्टिक कविता की विशेष चर्चा है। डॉ० प्रेमशंकर ने दान्ते की डिवाइन कॉमेडी और प्रसाद की कामायनी तथा गेटे के फाउस्ट और मनु के व्यक्तित्व में समानता की रेखाएँ खोजी हैं। इसी प्रकार शेली, कीट्स, बायरन, पुश्किन की रोमाण्टिक प्रवृत्तियों को प्रसाद के समानान्तर रखकर देखा गया है। भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य के सन्दर्भ में जयशंकर प्रसाद को रखकर विवेचित करना, एक चुनौती-भरा कार्य है, वह भी बीस-बाइस वर्ष के एक युवक शोधकर्ता के लिए। पर लगता है इस कार्य में डॉ० प्रेमशंकर के गुरु आचार्य वाजपेयी ने उन्हें रास्ता दिखाया, जिस पर वे निष्ठा और श्रम से चले। आज जब हिन्दी समीक्षा का धरातल काफी ऊँचा उठा है तब 'प्रसाद काव्य' का यह

तुलनात्मक विवेचन साधारण लग सकता है, पर जब 1950-52 में यह पुस्तक लिखी गई थी, उसे देखते हुए इस साहस की प्रशंसा करनी होगी।

प्रसाद-काव्य की मूल चेतना और उपसंहार 'प्रसाद का काव्य' को समापन देने के लिए लिखे गए अध्याय हैं। यहाँ स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों के साथ प्रसाद की दार्शनिक-सांस्कृतिक चेतना का विशेष उल्लेख किया गया है जिसे नाटकों मे विशेष रूप से देखा जा सकता है। इसे डॉ० प्रेमशंकर प्रसाद के चिन्तन के विकास रूप में देखते हैं—चित्राधार से कामायनी तक। प्रेम, सौन्दर्य, सांस्कृतिक अव-धारणा, मानवीयता आदि प्रसाद-काव्य की मूल चेतना के कुछ उल्लेखनीय पक्ष हैं। प्रेमशंकर जी प्रसाद का विवेचन एक निरन्तर विकसित होते हुए रचनाकार के रूप में करते हैं और आग्रह करते हैं कि प्रसाद की सही समझ के लिए उनके समग्र साहित्य को एक साथ रखकर देखा जाय। उनका कथन है : "प्रसाद के सम्पूर्ण कृतित्व पर एक विहंगम दृष्टि डालने के पश्चात् उन्हें विश्व के शीर्ष कवियों के निकट स्थान देना पड़ता है" (*प्रसाद का काव्य* : चतुर्थ संस्करण, पृ० 474)। प्रसाद का काव्य के नवीनतम संस्करण में कामायनी : आज के सन्दर्भ में शीर्षक निबन्ध परिशिष्ट के अन्तर्गत दिया गया है जहाँ डॉ० प्रेमशंकर कामायनी के पुनर्मूल्यांकन का प्रयत्न करते हैं।

'प्रसाद का काव्य' पुस्तक की अपनी सीमाएँ हैं—आयु, समय और अपने गुरु के प्रभाव की, पर इस पुस्तक का रोल इतिहास की तरह है, इसमें सन्देह नहीं। डॉ० प्रेमशंकर ने स्वयं स्वीकार किया है कि विवेचन में भावुकता आ गई है, इसकी अपनी विवशताएँ हैं। पर जब 1955 में इसका प्रकाशन हुआ था, तब सबने इसे एक ईमानदार प्रयत्न के रूप में स्वीकार किया था और प्रसाद पर कई आलोचना ग्रन्थों के बावजूद 'प्रसाद का काव्य' आज भी प्रासंगिक पुस्तक के रूप में स्वीकार्य है। इसमें डॉ० प्रेमशंकर की वह तेज आलोचना-दृष्टि नहीं दिखाई देती जिसे 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' नामक पुस्तक के प्रसाद सम्बन्धी विवेचन में हम पाते हैं। पर 'प्रसाद का काव्य' अपनी सीमाओं के बावजूद आज भी प्रसाद को समझने में हमारी सहायता करती है, इसमें सन्देह नहीं। वह प्रसाद की आलोचना का प्रथम शोध-प्रयत्न है।

कामायनी का रचना-संसार

नन्दकिशोर नवल

मध्यकालीन काव्य में जैसे रामचरितमानस आलोचकों के काव्य-विवेक की कसौटी है, वैसे ही आधुनिक काव्य में 'कामायनी'। संयोग की बात यह है कि ये दोनों ही काव्य दो प्रकार के हैं। मानस जहाँ कथात्मक और इतिवृत्तात्मक शैली मे रचा गया काव्य है, वहाँ 'कामायनी' प्रगीतात्मक और रूपकात्मक अथवा फैंटास्टिक शैली में रचा गया काव्य। इसी तरह मानस की भाषा को कभी-कभी अकाव्यात्मक होने की हद तक सरल समझा जाता है, जबकि 'कामायनी' के बारे मे यह ख्याल है कि उसकी भाषा दुरूह ही नहीं बल्कि असमर्थ है। अकारण नही कि एक लेखक ने प्रसाद को 'विश्वविद्यालयों का कवि' कहा है, क्योंकि उन्हें सामान्य पाठकों का वर्ग सुलभ नहीं हुआ और वे सिर्फ हिन्दी की ऊँची कक्षाओं में पढाए जाने वाले कवि बनकर रह गए हैं। स्वभावत. उनकी 'कामायनी' से आचार्य रामचंद्र शुक्ल से लेकर मुक्तिबोध तक की आलोचना टकराती रही है। आचार्य वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र के साथ डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे नए आलोचकों ने भी उस पर लिखा है, लेकिन इनकी आलोचना कृति से टकराती नहीं, बल्कि बहुत कुछ उसका अनुसरण करती है। इसे एक साहित्यिक विडम्बना ही कहेंगे कि 'कामायनी' के प्रति प्रतिकूल रूप रखने वाले आलोचकों ने अपेक्षाकृत अपने प्रौढ़तर काव्य-विवेक का परिचय दिया है।

डॉ० प्रेमशंकर डॉ० चतुर्वेदी की पीढ़ी के आलोचक हैं और उनके संबंध में यह तथ्य ज्ञातव्य है कि वे आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के शिष्य हैं। प्रसाद-प्रेम जैसे उन्हे अपने गुरु से प्राप्त हुआ है जिसका प्रमाण यह है कि उन्हें एम० ए० करने के बाद प्रसाद के काव्य को ही अपने शोध का विषय बनाया। जहाँ तक मैं समझता हूँ उनकी पुस्तक 'कामायनी का रचना-संसार' उनके शोध प्रबध (प्रसाद का काव्य) के 'कामायनी' के विवेचन से संबंधित अंश का ही नया रूप है। यह परीक्षा का विषय है कि उसके विवेचन मे उन्होंने कहाँ तक मौलिकता और नवीनता का परिचय दिया है।

एक बात तो साफ है कि शोध-प्रबंध का अंश होने के कारण इस विवेचन की कुछ अपनी सीमाएँ हैं। शोध-प्रबंध में शोधकर्ता विभिन्न संदर्भ देकर अपनी बातों को पुष्ट करता है, या फिर किसी विषय पर पहले किए गए चिंतन का इतिहास प्रस्तुत करते हुए उस क्रम में ही अपनी बातें सामने रखता है। प्रेमशंकर के इस विवेचन में देशी-विदेशी आचार्यों के संदर्भ दिए गए हैं। लेकिन यह सही है कि उनसे उनका लेखन बोझिल नहीं हुआ है। बल्कि यह देखकर सुखद आश्चर्य होता है कि कोई शोध-प्रबंध भी इतनी सरल और मुक्त शैली में लिखा जा सकता है। इससे यह महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है कि आलोचना को पठनीय बनाए रखने के लिए सिर्फ भाषा की सरलता आवश्यक नहीं है, बल्कि उसके साथ चिंतन की नवीनता भी चाहिए, जो पाठकों को वैचारिक स्फूर्ति प्रदान करती चले। पुस्तक के अंतिम खंड में 'कामायनी' के महाकाव्यत्व पर विचार करने के लिए डॉ० प्रेमशंकर ने देशी-विदेशी महाकाव्यों का संक्षेप में और सारगर्भित ढंग से इतिहास प्रस्तुत किया है। पाठकों को नवीनता वहाँ मिलती है, जहाँ वे यह कहते हैं कि शुक्लजी की धारणा बहुत कुछ प्राचीन प्रबंधों पर निर्भर है, इसी कारण वे 'कामायनी' में कोई 'समन्वित प्रभाव' नहीं पाते।' शोध-प्रबंध की सबसे बड़ी सीमा यह होती है कि उसमें 'स्रोतानुसंधान' को सर्वाधिक महत्व प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों ने उचित ही शोध और आलोचना को दो कोटियों में रखा है, यद्यपि ऐसे विद्वान भी हैं जो शोध के भीतर किसी हद तक आलोचना को आवश्यक मानते हैं जैसे वे शोध को क्रमबद्ध और प्रामाणिक आलोचना के लिए अनिवार्य बतलाते हैं। स्रोतानुसंधान की सीमित उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता, लेकिन जैसा कि टी० एस० इलियट ने कहा है, उसमें इसका खतरा हमेशा बना रहता है कि उसकी अधिकता कविता से कहीं हमारा सम्बन्ध तोड़ न दे।

'कामायनी का रचना-संसार' तीन खण्डों में विभाजित पुस्तक है। 'कामायनी' को लेकर बड़ी उलझनें हैं। उस पर जो शोधप्रबन्ध और आलोचना की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उनमें विचार के लिए उठाए जाने वाले विषयों में प्रायः वैज्ञानिक क्रम नहीं मिलता, जिससे एक विषय दूसरे को अतिव्याप्त करता चलता है, जिसके परिणामस्वरूप दुहराहट देखने को मिलती है। डॉ० प्रेमशंकर ने विचार का यह क्रम रखा है—कथा, चिंतन और काव्यत्व। मानना पड़ेगा कि यह क्रम बहुत सुलझा हुआ है और 'कामायनी' के सभी पक्षों को समेट लेने वाला है। यदि डॉ० प्रेमशंकर ने 'कामायनी' की कथा, चिंतन और काव्यत्व पर अलग-अलग विचार करते हुए इन तीनों के अंतस्सम्बन्ध को अपेक्षित महत्व दिया होता तो उनका विवेचन निश्चय ही पूर्णतर होता। लेकिन यह तो निष्कर्ष की बात है, पहले हम उनके विवेचन को देखें।

'कामायनी' वाकई हिन्दी की पहली रचना है, जिसने हिन्दी के विद्वानों को

अपनी पंडितम्मन्यता को तुष्ट करने का सर्वाधिक अवसर प्रदान किया है। प्रसादजी ने इसकी भूमिका में ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छांदोग्य उपनिषद आदि का जिक्र किया है, क्योंकि इन्हीं से उन्होंने इसकी कथा के सूत्र प्राप्त किए थे। दूसरे वे शैवदर्शन से प्रभावित थे यह बात लोगों को मालूम थी। 'कामायनी' के अंतिम सर्गों में इस दर्शन के पारिभाषिक शब्दों का उन्होंने निःसंकोच भाव से प्रयोग किया है। हिन्दी के विद्वानों के लिए इतना इशारा काफी था। विशेष रूप से अध्यापकों और शोधकर्ताओं ने 'कामायनी' की कथा और दर्शन से सम्बन्धित सामग्री का ढेर लगा दिया, जिसमें यह कृति दबकर रह गई। पाठक भी जैसे इस बात को भूल ही गए कि यह अंततः एक काव्य-कृति है, जिसकी कथा और दर्शन जितने भी स्रोतों से सामग्री लेकर रचे गए हों, इसकी सार्थकता एक काव्य-कृति होने में ही है। मुक्तिबोध ने 'कामायनी' को एक फैंटेसी कहा है और उसकी कथा के स्रोतों के अनुसंधान के लिए कष्ट नहीं उठाया है। जब 'कामायनी' इतिहास नहीं है और कवि का लक्ष्य उसके रूप में किसी वैदिक या पौराणिक कथा का उपस्थान नहीं है, तो स्रोतानुसंधान पर व्यर्थ पसीना क्यों बहाया जाए? क्या यह सिद्ध करने के लिए कि कथा अनुत्पाद्य है इसलिए महान और विश्वसनीय है।

लेकिन प्रसादजी कामायनी में न तो प्राचीन कथा के रूप को लेकर चलते हैं, न उसकी अन्तर्वस्तु को। कथा को न केवल उन्होंने नया रूप प्रदान किया है, बल्कि उसे बिलकुल रूपक या फैंटेसी बना दिया है, जिससे कि वे उसके माध्यम से अपने नये चिन्तन को सामने ला सकें। उनका यह कथन कि 'मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं', भ्रामक है, क्योंकि इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनका मुख्य ध्यान कामायनी की कथा को ऐतिहासिक रूप में प्रस्तुत करने पर रहा है। सच्चाई यह है कि कथा का वैदिक-पौराणिक रूप उनके लिए केवल 'आभास' है, असली चीज है उसके माध्यम से प्रस्तुत की गई समकालीन जीवन की चिन्ता। विचित्र बात है कि उन्होंने कामायनी की भूमिका में उसकी मुख्य अन्तर्वस्तु की कहीं चर्चा नहीं की है और उसकी कथा के मनोवैज्ञानिक अर्थ की ओर बार-बार संकेत किया है। उनका 'मानवता का विकास' मनुष्य के मनोवैज्ञानिक विकास के अलावा और कुछ नहीं। इस तरह एक तरफ कामायनी के सम्बन्ध में प्रसादजी के विचार हैं और दूसरी तरफ यह काव्य, जो क्षयिष्णु भोगविलास प्रधान सभ्यता और विनाशोन्मुख औद्योगिक सभ्यता से अलग मनुष्य के लिए एक नया रास्ता, जो कि निर्माण और आनन्द का रास्ता हो, ढूँढ़ने की कोशिश करता है। कामायनी की इस अन्तर्वस्तु को तभी ठीक से पकड़ा जा सकता है जबकि उसकी कथा को एक रूपक या फैंटेसी माना जाए। यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि कामायनी की कथा को रूपक या फैंटेसी मानने का मतलब यह कतई नहीं है कि मनु, श्रद्धा और

इडा उसके ये पात्र बिलकुल प्रतीक हैं और इनका कोई अपना व्यक्तित्व या चरित्र नहीं। रूपकात्मक या फैंटास्टिक कथा के भीतर ये पात्र अपना निजी चरित्र भी रखते हैं, जो अपनी वास्तविकता से हमें प्रभावित करता है। यदि इस प्रकार की वास्तविकता कामायनी की कथा में न होती, तो वह कितने भी गहन और ऊंचे विचारों को लेकर क्यों न रची जाती, बिलकुल निस्सार होती।

प्रेमशंकर ने यह मानते हुए भी कि वास्तव में प्रसाद का मुख्य उद्देश्य अपनी विचारधारा की अभिव्यक्ति था, जिसके लिए उन्होंने अत्यन्त प्राचीन कथा को लिया जिसमें मानव का ही विकास है, कामायनी की कथा के स्रोतों का पता लगाने के लिए बहुत परिश्रम किया है। उन्होंने बतलाया है कि मनु, श्रद्धा, और इड़ा का निर्माण प्रसादजी ने कहाँ तक प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर किया है और कहाँ तक उसमें अपनी कल्पना से काम लिया है। कथा रूप में कामायनी का प्रजापति शतपथ ब्राह्मण की भांति है, किन्तु अपने गुणधर्म में वह मनुस्मृति के अधिक समीप है। मनु का अन्तिम रूप ऋषि का है, जो कि उसके वैदिक स्वरूप से मिलता है। मनु और श्रद्धा ऋग्वेद में पति-पत्नी हैं। उसमें श्रद्धा कामगोत्रजा है, लेकिन पुराणों मे श्रद्धा से ही काम की उत्पत्ति मानी गई है। प्रसादजी ने श्रद्धा के पौराणिक स्वरूप की अपेक्षा उसके गुणों पर अधिक ध्यान दिया है। वेदों में वह 'ऋषिका' है, छांदोग्य उपनिषद् 'आस्तिक बुद्धि' कहकर उसे जीवन के लिए आवश्यक मानती है और शैव दर्शन उसमें मातृत्व की कल्पना करता है। इड़ा शतपथ ब्राह्मण में मनु की दुहिता है, लेकिन कामायनी में नहीं। सारस्वत प्रदेश की रानी के रूप में भी उसका परिचय प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त नहीं। इस तरह की सूचनाओं के साथ प्रेमशंकर ने यह भी बतलाया है कि कामायनी के आनन्द सर्ग मे उपनिषदों का अद्वैतवाद शैवागम की आनन्द कल्पना से समन्वित होकर प्रकट हुआ है। उनका एक विशेष आग्रह इस बात पर है कि वैदिक कर्मकांड से हिंसा का अनिवार्य सम्बन्ध न माना जाए। उसमें पशुबलि का समावेश असुरों के प्रभाव से हुआ। कहते है, "वैदिक साहित्य में भी पशुबलि और हिंसा की निन्दा है। ब्राह्मण काल में इसके बढ़ते हुए प्रचार के विरुद्ध ऋषियों ने आन्दोलन किया। असुर हत्या, मांस-भक्षण, सुरापान आदि के पुजारी थे और देवासुर-संग्राम का कारण यही विचार-भेद है। मनु का हिंसक रूप असुर-पुरोहित किलात और आकुलि के संसर्ग का परिणाम था।" उनके अनुसार श्रद्धा वैदिक कर्म की स्थापना का प्रयत्न करती है। प्रसादजी ने विस्तार से बतलाया है कि देव-सभ्यता का ध्वंस विलासिता और वैदिक कर्म-कांड के कारण हुआ, जिसमें हिंसा अनिवार्य थी। कथा के स्रोतों में उलझने से कवि के मुख्य प्रतिपाद्य से आलोचक का ध्यान हट गया है। वह यह बतलाने की जगह कि इतिहास और कल्पना के मिश्रण से रची गई कथा के माध्यम से कवि ने क्या कहना चाहा है, यह बतलाने लगा है कि इतिहास का तथ्य क्या है। मैं पुनः यह

बात कहना चाहूंगा कि कामायनी पर उसे तथ्य मानकर नहीं, बल्कि उसे एक रूपक, फैंटेसी या भ्रांति मानकर विचार किया जाए तभी उसके काव्यार्थ को उजागर किया जा सकता है। प्रेमशंकर ने उसकी कथा के स्रोतों का उद्घाटन करने के बाद यह कहा है कि कामायनी एक सुन्दर रूपक के रूप में भी प्रस्तुत हो सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि वे उसकी रूपकात्मकता को गौण मानते हैं। दूसरे यहां भी वे कवि की मान्यता का अतिक्रमण नहीं करते। "मनु मन का प्रतीक है, श्रद्धा उसका हृदय और इड़ा बुद्धि-पक्ष है। श्रद्धा का वास्तविक मूल्य न जानने वाला मन इधर-उधर भटकता है। अन्त में इसी के द्वारा उसे आनन्द प्राप्ति होती है।" यह है कामायनी की रूपकात्मकता ! आलोचना जब कृति से अपना ध्यान हटाकर कृतिकार का अनुसरण करती है, तो उसकी परिणति इसी रूप में होती है।

'कामायनी का रचना-संसार' के दूसरे खण्ड में, जिसमें कामायनी के चिन्तन पर विचार किया गया है, प्रेमशंकर ने प्रसादजी का कुछ ज्यादा ही अनुसरण किया है। उन्होंने उनकी 'मानवता का विकास' वाली बात को पकड़कर यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि इस काव्य में उनका मुख्य उद्देश्य यह दिखलाना रहा है कि मनुष्य कैसे अपने मनोविकारों के झकोरे खाता हुआ संतुलन अथवा सामरस्य की अवस्था तक पहुंचा है। मुक्तिबोध ने अपनी आलोचना में 'कामायनी' के सामरस्यवाद की धज्जियाँ उड़ा दी हैं, क्योंकि वह एक अयथार्थ वस्तु है। उनका कहना है कि ज्ञान, इच्छा और कर्म के बीच सामंजस्य व्यवहार-क्षेत्र में ही प्राप्त हो सकता है, व्यक्तित्व का निर्माण वहीं होता है, लेकिन मनु को सामरस्य की प्राप्ति व्यवहार-क्षेत्र से दूर श्रद्धा के सहयोग से बहुत चमत्कारी ढंग से होती है। हिमालय के उच्च शिखर पर, जहाँ महाशून्य है, मनु को तीन रंगों के तीन आलोक-बिन्दु दिखलाई पड़ते हैं। श्रद्धा उन्हें बतलाती है कि वे तीनों इच्छा, कर्म और ज्ञान के लोक हैं और अपनी स्मिति से उन्हें मिला देती है। इसी से वे सामरस्य की प्राप्ति कर लेते हैं। स्पष्टतः यह भाववाद अथवा रहस्यवाद है, जिसके लिए आचार्य शुक्ल ने कामायनी की आलोचना की है। लेकिन प्रेमशंकर प्रसादजी से भी आगे जाकर अपना यह मंतव्य प्रकट करते हैं कि 'शैव दर्शन से प्रभावित होते हुए भी कामायनी की समरसता अधिक व्यावहारिक है।' कामायनी बहुत ही ऊंचे स्तर पर चलने वाला काव्य है, जिसमें प्रसादजी ने समाज की विराट समस्याओं को विषय बनाया है। वे समस्याएं हैं—मानवीय संवेदना, विचारधारा और सामाजिक व्यवस्था की समस्याएं। लेकिन इन समस्याओं को उन्होंने कामायनी के अन्त में नितान्त व्यक्ति की समस्या बनाकर छोड़ दिया है, क्योंकि उनका दृष्टिकोण मूलतः व्यक्तिवादी था। कामायनी की इस असंगति पर प्रेमशंकर का ध्यान नहीं गया है, क्योंकि उन्होंने कवि का विश्वास किया है, कविता पर उन्होंने दृष्टि केन्द्रित की होती, तो

कामायनी के सर्वाधिक सुन्दर सर्ग वासना के सम्बन्ध में उनके ये विचार न होते. "वासना में नारी-पुरुष का मिलन केवल भौतिक एवं बाह्य था। वह समरसता का अत्यन्त निम्न रूप है।" वासना सर्ग काम, प्रेम और सौन्दर्य इन मानवीय भावनाओं की ऊष्मा से ओत-प्रोत ऐसा सर्ग है, जिसकी समकक्षता 'कामायनी' का कोई सर्ग नहीं कर सकता। वह छन्द की दृष्टि से भी सर्वाधिक मनोरम है और उसमें कवि की अभिव्यक्ति भी तनाव के सर्वोच्च बिन्दु पर पहुंची हुई है। लेकिन 'कामायनी' की मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक योजना में वह ऊपर नहीं बैठता, इसलिए आलोचक ने भी उसे नीचा स्थान दे दिया है।

कामायनी का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश उसमें की गई सभ्यता-समीक्षा है। यह समीक्षा ध्वस्त देव-सभ्यता की भी है और नवनिर्मित सारस्वत-सभ्यता की भी। प्रसादजी की समीक्षा में इस बात के स्पष्ट संकेत हैं, उनका आशय क्रमशः सामंती और पूँजीवादी सभ्यता से है। वे सामंती सभ्यता को ढहते हुए देख रहे थे। उनके सामने यह बिलकुल स्पष्ट हो गया था कि इतिहास में सामन्तवाद की प्रगतिशील भूमिका समाप्त हो चुकी है और सामंती व्यवस्था अपनी भीतरी शक्ति के अभाव में अब किसी तरह से जीवित नहीं रखी जा सकती है। इसी तरह उन्होंने पूंजीवाद के अमानवीय रूप को भी अच्छी तरह से समझ लिया था। प्रथम विश्वयुद्ध उनकी आंखों के सामने घटित हुआ था। उसके ध्वंस पर वे पूंजीवाद के नवोत्थान को भी देख रहे थे और जानते थे कि न केवल उससे मनुष्य की समस्या हल नहीं होगी, बल्कि नये ढंग से निर्मित पूँजीवादी व्यवस्था को भी पूँजीवाद ही समाप्त कर देगा। चिन्ता सर्ग मे देव-सभ्यता की विस्तृत समीक्षा सामंती-व्यवस्था की समीक्षा है। इड़ा सर्ग मे काम विज्ञान पर आधारित जिस सभ्यता का चित्र खींचता है, वह प्रथम विश्वयुद्ध के बाद विकसित होने वाली पूँजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था है। जब इड़ा मनु से कहती है कि "तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय/यश अखिल लोक में रहे छाय,' तो आकाश ठहाका लगाकर हंस पड़ता है, क्योंकि उसे मालूम था कि यह व्यवस्था भी नष्ट हो जाएगी। प्रसादजी जर्मनी, इटली और जापान में द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए चलने वाली तैयारियाँ देख रहे थे। काम मनु को उसके द्वारा निर्मित की जाने वाली व्यवस्था के दुर्गुणों के बारे में बतलाता है, तो युद्ध, हिंसा व्यवहार और सम्बन्ध की कृत्रिमता, अलगाव, दंभ, वर्तमान-हीनता और भविष्यहीनता, नियतिवाद, 'बुद्धि-विभव की भ्रांति' आदि की चर्चा करता है। इस सबको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय पश्चिम में समाज-वादी दृष्टि से पूँजीवाद की जो आलोचना की जा रही थी, प्रसादजी उससे परिचित थे। आचार्य शुक्ल ने कामायनी में 'साम्यवादी पुकार की भी दबी-सी गूँज' देखी थी। वह गूँज पूँजीवादी सभ्यता समीक्षा में ही दिखलाई पड़ती है। प्रसादजी की मानवीय चिन्ता सामंतवाद और पूँजीवाद की विफलता से उत्पन्न थी। वे इनका

विकल्प ढूंढ रहे थे, भले व्यवहार-जगत् से हटकर कल्पना-लोक में। मुक्तिबोध ने उनके द्वारा ढूंढे गए विकल्प को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देकर अपनी आलोचना को उसी पर केन्द्रित कर दिया है, जबकि महत्त्व उस विकल्प का नही, उस व्यापक चिन्ता का है, जो कामायनी की रचना के मूल में है।

प्रेमशंकर ने कामायनी के चिन्तन-पक्ष पर विचार करते समय उसकी मुख्य अन्तर्वस्तु को नजरअन्दाज किया है। सामयिक प्रश्न के अन्तर्गत उन्होंने कहा है कि "जीवन की सामयिक समस्याओं को भी कामायनी में स्थान प्राप्त है।" स्पष्टतः सामयिक समस्याए उनकी दृष्टि में कामायनी का मुख्य नहीं, बल्कि आनुषंगिक विषय हैं। उसे भी उन्होंने मनोविज्ञान और दर्शन से बांध दिया है, विज्ञान और बुद्धि के अतिवाद का भीषण परिणाम दिखाकर उन्होंने (प्रसादजी ने) एक सास्कृतिक विचार की स्थापना की। तात्पर्य यह कि सारस्वत प्रदेश की व्यवस्था बीसवीं शताब्दी में उत्थान को प्राप्त होने वाली पूंजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था नहीं है, जिसकी विशेषता है अनियन्त्रित अधिकार-भावना, बल्कि वह एक शाश्वत और सार्वभौम सत्य का उदाहरण है। कामायनी को उसके रचनाकालीन सन्दर्भों से विच्छिन्न कर उसे एक शुद्ध चिन्तन लोक की वस्तु बना देने का यह प्रयास निश्चय ही इस प्रकार के पूर्व प्रयासों की ही अगली कड़ी है। इससे यह महत्त्वपूर्ण काव्य नई पीढ़ी के लिए लगातार अरुचिकर और अप्रासंगिक होता गया है। वाजपेयी-नगेन्द्र ने जैसे कामायनी को उसके कवि के कथनों के आलोक में देखा है वैसे ही नई पीढ़ी ने उनकी आलोचना के आलोक में। मुक्तिबोध ने नई पीढ़ी को इन आलोचकों के प्रभाव से मुक्त करना चाहा, तो वे स्वयं अनेक सरलीकरणो के शिकार होकर रह गए और उसके ध्यान को कामायनी की समस्या से हटाकर उसके समाधान पर लगा दिया, जो कि काव्य के प्रसंग में कतई महत्त्वपूर्ण नही है।

अन्त में प्रेमशंकर ने कामायनी के काव्यत्व पर विचार किया है। काव्य के कथा और चिन्तन-पक्ष पर विचार करना भी काव्यत्व पर विचार करना ही है, बशर्ते कि आलोचक का ध्यान उनके काव्यात्मक रूपान्तरण पर हो। काव्यत्व अलग से कोई वस्तु नहीं है, वह काव्य के विभिन्न अंगो में ही अखण्डभाव से निहित होता है लेकिन परम्परा या सुविधानुसार आलोचक अलग से काव्य के भाव-विधान, रूप-विधान और शब्द-विधान पर विचार कर उसके काव्यत्व पर विचार को पूरा करते हैं। इसमें पुनरावृत्ति का खतरा रहता है। यह पुनरावृत्ति सावधानी बरतने के बावजूद 'कामायनी का रचना-संसार' में भी यत्र-तत्र दिखलाई पड़ती है, यद्यपि उस रूप में नहीं जिस रूप में अन्य आलोचना और शोधग्रन्थों में। "कामायनी के भाव-विधान के सम्बन्ध में उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं।" सूक्ष्म भावों का चरित्रांकन करने में कवि को सफलता प्राप्त हुई है पर स्थूल वस्तु-चित्रण मे

कामायनीकार की तूलिका अधिक नहीं रमती। "यह छायावादी कवि की प्रकृति के अनुरूप है। इसी तरह आलोचक ने प्रसादजी की इस विशेषता को भी रेखांकित किया है कि उनका रूप गुण को साथ लेकर चलता है, छवि-प्रकाशन के साथ-साथ आन्तरिक अभिव्यक्ति भी होती जाती है, जैसे श्रद्धा के रूप-वर्णन में। कामायनी मे प्रकृति बहुत ज्यादा है। उसमें उसके जटिल उपयोग का उसने इस रूप में अच्छा निरूपण किया है—कामायनी का कवि प्रकृति-प्रेमियों की भाँति उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर नैसर्गिक रूप का वर्णन नहीं करता। वह प्रकृति के गुण और मानवीय क्रिया-कलाप में एक समन्वय स्थापित करता है। कामायनी में आरम्भ से ही प्रकृति का चित्र मनु के व्यक्तित्व को साथ लेकर चला है। दूर-दूर तक विस्तृत हिम की स्तब्धता मनु के हृदय की भाँति थी। इधर-उधर खड़े हुए दो-चार देवदारु वृक्ष तपस्वी की भाँति लम्बे थे। प्रकृति उसकी मर्म वेदना और करुणाविकल कहानी को सुन रही थी।" प्रेमशंकर ने यह भी उचित ही लक्ष्य किया है कि प्रसादजी ने नाटक और काव्य के समन्वय से 'कामायनी' का वस्तु-विन्यास किया है। उसमे काव्यत्व की कमी नहीं है, लेकिन उसकी कथा में नाटकीय कथा-जैसी सरलता और संक्षिप्तता है और उसमें चारों ओर से प्रकाश मनु पर प्रक्षेपित होता है।

चरित्र-चित्रण पर विचार करते हुए डॉ० प्रेमशंकर ने पुनः कामायनी के पात्रो के प्रतीकत्व पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है, जिससे उनका अपना चरित्र सामने नहीं आ सका है। दूसरी बात यह कि उससे सारे पात्र अमूर्त हो गए हैं। वे किसी देश और काल से बँधे हुए उनकी समस्याओं से जूझते पात्र नहीं हैं, बल्कि कवि के हाथों की कठपुतली हैं। सच्चाई यह है कि मनु, श्रद्धा और इड़ा तीनो का अपना व्यक्तित्व है और वे तीनों ही अपने ढंग से पीड़ित पात्र हैं। मनु को प्रेमशकर ने आधुनिक मानव कहा है। वह कामायनी का सर्वाधिक सशक्त चरित्र है, बेचैनी से भरा हुआ, जो ठीक ही अपना परिचय यह कहकर देता है कि किस गहन गुहा से अति अधीर / झंझा-प्रवाह-सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महासमीर। उस पर श्रद्धा का वश कतई नहीं है, लेकिन प्रेमशंकर मानते हैं कि "बिना उसके जैसे मनु का कोई अस्तित्व नहीं।" मनु अपने अतीत और भविष्य से वंचित अपनी और अपने परिवेश की समस्याओं से पीड़ित अत्यन्त ऊर्जस्वी चरित्र है, जो लगातार उनके समाधान की तलाश में है। उसके यथार्थ चरित्र के आगे, जो कि निर्माण की प्रक्रिया में है, श्रद्धा का बना-बनाया आदर्श चरित्र फीका लगता है तथापि यह सही है कि जीवन-संगिनी के रूप में वह भी एक पीड़ित और परवश नारी-चरित्र है, जिससे उसके चरित्र में भी यत्र-तत्र यथार्थ की चमक आ गई है। इड़ा भी मनु से पीड़ित होती है, इसलिए वह भी मात्र प्रतीक-चरित्र नहीं है।

जहाँ तक कामायनी के शब्द-विधान की बात है, आवश्यकता उसकी भाषा की सृजनात्मकता के स्रोतों को पहचानने की है। छायावादी काव्य-भाषा प्रगीतो

की रचना के लिए निर्मित हुई थी लेकिन उसी से प्रसादजी ने अपने युग के सर्वाधिक बौद्धिक और आधुनिक प्रबन्ध काव्य की रचना की। छायावादी काव्य-भाषा से यह महत्तर और बृहत्तर कार्य लेने के लिए वे निरन्तर संघर्ष करते रहे। इस संघर्ष में वह भाषा क्षत-विक्षत भी हुई और उसमें नया-नया लावण्य और नया तेज भी सम्भव हुआ। प्रेमशंकर ने 'कामायनी' की भाषा की सृजनात्मकता का विश्लेषण करने की जगह इस प्रकार की उक्तियों से काम चलाने की कोशिश की है कि "वास्तव में प्रसाद की भाषा की चित्रमयता अत्यन्त शक्तिसम्पन्न है। किसी प्रकार का भी चित्र वे अपनी तूलिका से प्रस्तुत कर सकते हैं। हिन्दी का यह शब्द-शिल्पी इस दृष्टि से विश्व के विशिष्ट कवियों के समकक्ष है।" कामायनी का रचयिता विश्व के उन महान कवियों की तरह भाग्यशाली नहीं था, जो पूर्वनिर्मित भाषा के द्वारा एक सब तरह से समर्थ और निर्दोष काव्य की रचना करने में कृतकार्य होते हैं। यदि ऐसा होता तो शायद कामायनी की भाषा में जो पिघले सोने का ताप और चमक है, वह न होती।

इस समीक्षात्मक निबन्ध से यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि 'कामायनी का रचना-संसार' एक सामान्य आलोचना पुस्तक है। निश्चय ही यह शोध-प्रबध का अंश है, लेकिन इसमें विषय को अपेक्षाकृत क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत किया गया है और सरल-सुबोध शैली में गहन बातें कही गई हैं। आज कामायनी के सम्बन्ध मे बहुत सारी बातें सामान्यज्ञान का विषय बन चुकी है, लेकिन जिस समय प्रेमशकर ने उस पर विचार किया था, वे बातें विशिष्ट ज्ञान की श्रेणी में आती थीं। पूरे शोध-प्रबन्ध ('प्रसाद का काव्य' नाम से प्रकाशित) में कामायनी सम्बन्धी अंश और उपयोगी प्रतीत होगा, क्योंकि वहाँ प्रसाद-काव्य का पूरा परिप्रेक्ष्य पाठकों के सामने उपस्थित रहेगा। इस निबन्ध से यह निष्कर्ष निकालना भी गलत होगा कि जैसे प्रेमशंकर ने कामायनी पर प्रसाद-दृष्टि से विचार किया है, मैंने उनकी आलोचना पर मुक्तिबोध-दृष्टि से। यों स्वयं प्रेमशंकर ने अपनी पुस्तक की लम्बी भूमिका 'कामायनी आज के सन्दर्भ में' मुक्तिबोध के महत्त्व को स्वीकारा है। मुक्तिबोध ने निश्चय ही कामायनी-सम्बन्धी अध्ययन को आगे बढ़ाया है, लेकिन पुनः यह कहने की जरूरत है कि उन्होंने अपना ध्यान जितना कामायनी के दर्शन पर केन्द्रित किया है उतना उसमें अभिव्यक्त प्रसाद की व्यापक मानवीय चिन्ता पर नही, जबकि उसका असली महत्त्व इस चिन्ता को लेकर ही है। इसके अलावा मुक्तिबोध अनेक स्थलों पर सरलीकरण के शिकार हो गए हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद और मनु के बीच उनके द्वारा स्थापित सम्बन्ध को देखा जा सकता है। मैं प्रेमशंकर की इस बात से सहमत हूँ कि कामायनी के एक अधिक तटस्थ समाजशास्त्रीय विवेचन की गुंजायश अब भी बनी हुई है। यह इसलिए नहीं कि समाजशास्त्रीय विवेचन की शैली भी आलोचना की एक शैली है, बल्कि इसलिए कि साहित्य के सारे प्रश्न अन्ततः समाज से ही उद्भूत होते हैं और उसी में विलीन भी होते हैं।

हिन्दी स्वच्छंदतावादी काव्य

सन्तोष कुमार तिवारी

कतिपय भ्रांतियों के निराकरण की दिशा में और रूमानी काव्य के सही सन्दर्भों की तलाश में, डॉ० प्रेमशंकर ने स्वच्छंदतावादी काव्य आन्दोलन की जिस रचनाशील सामर्थ्य को अपनी महत्वपूर्ण स्थापनाओं के जरिए एक सजग-बौद्धिक दृष्टि प्रदान की है, वह हिन्दी-आलोचना के विकास का पाट चौड़ा करती हुई और उनके अध्ययन की समाजशास्त्रीयता को सांस्कृतिक प्रगतिशीलता से जोड़ती हुई उनके आलोचनात्मक चिन्तन और विवेक को भी रेखांकित करती है। जिन समीक्षकों ने छायावाद की अहमियत और प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लगाये और छायावाद के पतन की घोषणा की, वे यह भूल गये कि 'राजनीति-अनुशासित प्रतिबद्धता' से बड़ी चीज 'वृहत्तर मानवीय संवेदना' से जुड़ाव और रचाव है, जो सार्थक रचना के कीर्तिमानों को लड़खड़ाने नहीं देता और न इस बात की इजाजत देता है कि उसे गुजरे जमाने की चीज कहा जाये। आज का गैररूमानी समय स्वच्छंदतावाद पर पुनर्विचार की माँग करता है ताकि उसके विरोध के नाजायज तर्कों को खारिज किया जा सके और उसके सर्वोत्तम प्रदेय को हासिल के खाने मे ठीक ढंग से दर्ज भी।

दरअसल पश्चिम में रोमांटिसिज़्म एक ऐसा वैचारिक आन्दोलन रहा है जिसे फ्रांसीसी क्रांति की उपज के रूप में स्वीकारा गया और जो साहित्य की कई विधाओं-दिशाओं में संचरित हुआ किन्तु हिन्दी में उसका सर्वाधिक प्रक्षेपण कविता के क्षेत्र में ही हुआ। हमें इस भ्रम को तोड़ना होगा कि छायावाद विदेशी साहित्य का अनुकरण है, पाश्चात्य ईसाई संतों का छायाभास अथवा यूरोपीय प्रतीकवाद की मूल प्रेरणा है। प्रेमशंकर की मान्यता है कि पश्चिम और भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में पर्याप्त अन्तर रहा है। यहाँ परतंत्रता की पीड़ा थी और वहाँ मुक्ति का उल्लास। कोई भी रचना सामाजिक. आर्थिक. राजनैतिक, सांस्कृतिक दबावों से मुक्त नहीं होती आशय यह कि मूलत भारतीय सन्दर्भों की

युगीन परिस्थितियों को ग्रहण करता हुआ, क्रमिक विकास पा सका है। इसे समीक्षकों ने 'अपनी ही सामंजस्यशील साहित्य साधना का युगानुकूल मोड़' कहा है, प्रतिक्रिया नहीं। प्रेमशंकर ने छायावाद के स्थान पर स्वच्छंदतावाद को अधिक सार्थक शब्द माना है क्योंकि "मनुष्य की निजी आजादी, व्यक्तित्व की छूट, सौंदर्य की एक अपनी दुनिया आदि की जो ध्वनि आती है और उसमें रूमानी प्रवृत्तियो की जो शिरकत है, उसके लिए स्वच्छंदतावादी काव्य ही अधिक मौजूँ नाम मालूम होता है।"

आचार्य वाजपेयी जैसे तलस्पर्शी समीक्षक ने छायावाद के साथ-साथ यात्रा की और उसे भली-भाँति समझा-समझाया। 'साहित्य को सबल सृष्टि का हिमायती' मानते हुए उन्होंने छायावाद में निहित ललित कल्पना-छवियों, मानव-मूल्यों, राष्ट्रीय जीवन-प्रतिच्छाया, स्वातंत्र्य-लालसा, सांस्कृतिक-पीठिका, रागात्मक वृत्ति, प्रकृति सौदर्य, दर्शन की नियोजना, नवनिर्माण की अभिलाषा और नूतन अभिव्यंजना पद्धति को रेखांकित करते हुए प्रसाद, निराला, पंत के विविध काव्य स्तरों का सूक्ष्म उद्घाटन किया। बाद की स्थूल एवं परिवर्तनशील जीवन-दृष्टि को सामने रखते हुए वाजपेयीजी ने काव्य की जीवन-व्यापी अनुभूति को प्रमुखता दी। उन्होने सामाजिक परिस्थितियों और दार्शनिक विचारधाराओं के निरूपण के साथ-साथ कवि की अन्त:वृत्तियों का अध्ययन-विश्लेषण किया। इस तरह 'साहित्यिक प्रगतिशीलता' के स्वरूप को वाजपेयीजी ने पहचाना। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने छायावाद को मानववादी चेतना से अनुप्राणित पाया।

रोमांटिसिज्म पर तरह-तरह के आक्रमण होने लगे—एक तरफ आधुनिकतावादी आन्दोलन के प्रहार तथा दूसरी तरफ उग्र वामपंथ के। हिन्दी स्वच्छंदतावाद को इन समीक्षकों ने जीवनरहित, वायवीय, पलायनवादी, कुंठाग्रस्त और व्यक्तिवादी चेतना का काव्य कहा। इसे वैयक्तिक, एकान्तिक और दुर्बोध मानते हुए स्त्रैण तक कहा गया। डॉ० नगेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक प्रपत्तियों के आधार पर, छायावाद की व्याख्या करते हुए उसे 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' माना। आरम्भ मे कुछ मार्क्सवादी समीक्षकों ने इसे पूँजीवादी-व्यक्तिवादी चेतना का काव्य निरूपित किया किन्तु रामविलास शर्मा और नामवरसिंह जैसे समीक्षकों ने इसे व्यापक धरातल पर देखा और निराला की परम्परा में नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार आदि के काव्य को जाँचने-परखने की सार्थक कोशिश की। निराला के काव्य की भावगत एव शिल्पगत विविधता सारे वादों को नि:शेष करती हुई इस तथ्य को उजागर करने लगी कि स्वच्छंदतावाद कोई सीमित वैचारिक दृष्टि नही है।

जाहिर है कि आधुनिकतावादियों पर पूँजीवाद के गहरे दबाव रहे हैं इसलिए उनकी भूल यह कि वे व्यक्ति के अहं को केन्द्र मानकर चले जो मध्यवर्गीय मानसिकता का प्रतिरूप है। अज्ञेय जैसे सहित्यकारों के हमले कुछ ज्यादा ही तेज

रहे, यही कारण है कि वे एक सार्थक सर्जना को ध्वस्त करने में अपनी शक्ति अपव्यय भी करते रहे। प्रमुख प्रगतिवादी समीक्षकों ने सामाजिक-आर्थिक प‍रिप्रेक्ष्य में संतुलित दृष्टि अपनाते हुए स्वच्छंदतावाद के क्रांतिकारी पक्ष पर जोर दि‍ जिसे 'सामाजिक स्वच्छंदतावाद' के नाम से अभिहित किया गया। गोर्की क‍ यह बात सही प्रतीत हुई कि "क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद साहित्य की एक मूल्यवा‍ धरोहर है जिसमें—रूढ़ियों—बन्धनों से मुक्ति की कामना है, व्यक्ति चेतना औ‍ राष्ट्रीय चेतना की समन्वित सांस्कृतिक भावभूमि है। स्वच्छंदतावाद को समाजवादी यथार्थवाद के एक महत्त्वपूर्ण पहलू के रूप में भी स्वीकार किया गया।' प्रेमशंकर ने इस बारे में लिखा है "इस प्रकार स्पष्ट है कि मार्क्सवाद में स्वच्छंदतावाद के प्रगतिशील पक्ष को जो समर्थन मिलता है, वह समाजवादी यथार्थवाद के अन्तर्गत ही है।"

डॉ० प्रेमशंकर का 'हिन्दी स्वच्छंदतावादी काव्य' एक ऐसी समाजशास्त्रीय विवेचना की महत्त्वपूर्ण कोशिश है जिसमें व्यक्ति एक विशिष्ट इकाई के रूप मे उभरता है, अपने निजी अनुभव के उपयोग का साहस करता हुआ, किन्तु यहां वह कुंठित नहीं है और न अहं-परिचालित। यहाँ व्यक्ति सांस्कृतिक-सामाजिक संदर्भों से अपने को जोड़ता भी है। इस विवेचना में नवजागरण और मध्यवर्ग का उदय सशक्त पीठिका का निर्वाह करते हैं। लेखक ने स्वच्छंदतावाद की यात्रा के बहाने पश्चिमी आन्दोलन की कुछ खास रेखाएं प्रस्तुत की हैं ताकि हम हिन्दी को उसके सामने रखकर देख सकें। वहाँ खुली हवा में साँस लेता हुआ समाज है, जो निजी आजादी की माँग करता है और यहाँ भारत का परतंत्र परिवेश जो अपनी राष्ट्रीयता का स्वरूप ढूंढ़ता है और अपने सामाजिक-सांस्कृतिक आशय में विद्रोही स्वरूप के साथ-साथ मानवीय दृष्टि का प्रतिपालन करता है। सार्थक सृजन इतिहास, संस्कृति, दर्शन और युगचेतना को आत्मसात करता हुआ चलता है इसलिए प्रसाद प्रत्यभिज्ञा में, निराला वेदान्त में, पंत अरविन्द में और महादेवी बौद्ध करुणा में रुचि लेती दिखलाई देती हैं। नवजागरण की पृष्ठभूमि में छायावाद के इस सांस्कृतिक पक्ष को अपनी गहरी समझ देने में 'हिन्दी स्वच्छंदतावादी काव्य' ग्रथ की उपादेयता असंदिग्ध है और इस बिन्दु पर उसकी एक अलग मौलिक पहचान बनती है।

डॉ० प्रेमशंकर की मान्यता है कि छायावाद 1936 के आसपास अपनी ही सीमाओं का अतिक्रमण करता है, जैसे खुद अपने ही विरोध में खड़ा हो गया हो। यह एक ऐसा विचारणीय पक्ष है जो स्वच्छंदतावाद की महती संभावनाओं का संकेत देता है। यह रोमांटिसिज्म का विरोध नहीं, बल्कि उसका विस्तार है। यह विस्तार मानवीय आधार पर प्रगतिशील पक्ष को लेकर चलता है। दरअसल, छायावाद में यथार्थ की अभिव्यक्ति, उच्च मानवादर्श से संपृक्ति, प्रगति परम्परा का स्वस्थ

तालमेल और सुनहरे भविष्य के प्रति आश्वस्ति है। इसमें सार्वभौम मानवीयता को प्रश्रय मिला है, केवल आर्थिक या भौतिक पक्ष को ही नहीं। इसमें सांस्कृतिक भावभूमि को बुनियादी स्वरूप प्रदान किया गया है। इस तरह छायावाद में प्रगति-मूलक परिवर्तन की आकांक्षा बहुआयामी है।

आचार्य वाजपेयी ने प्रगतिशील साहित्य के तीन सूत्र निर्देशित किये है—"जीवन आस्था, परिवर्तन की पहचान और उपचार तथा कलात्मक स्वरूप का आयोजन।" प्रेमशंकर ने भी अपनी धारणाओं पर मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए पुस्तक की भूमिका में लिखा है—"मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूँ जो स्वच्छंदतावाद को प्रगतिशीलता के विरोध में रखकर देखना चाहते हैं। स्वच्छंदतावाद की सीमाएँ हैं। पर मैंने उनकी प्रगतिशील सांस्कृतिक चेतना का उल्लेख भी यथास्थान किया है और इस प्रयास में मुझे मार्क्सवादी चिन्तन से सहायता मिली है।" यही वजह है कि प्रेमशंकर ने निराला की विविध दिशाओं को हिन्दी स्वच्छंदतावाद की अनेक सभावनाओं का प्रत्यय मानते हुए लिखा है—"निराला जैसा दसों-दिशाओं का कवि सब जगह जाता हुआ भी किसी केन्द्र से बंधा है इसीलिए उनकी रचनाओं में प्राय-विघटन की स्थिति देखने को नहीं मिलती।......निराला की रचनाओं का केन्द्रीय तत्व यही 'क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद' है जिसके माध्यम से हम हिन्दी स्वच्छंदतावाद की विभिन्न दिशाओं का परिचय प्राप्त कर सकते हैं।"

यहाँ मुक्तिबोध का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि सही प्रगतिशील रचना तभी संभव है जब 'ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान' की मैत्री हो। रचनाकार वस्तुजगत या बाह्य जीवन के विविध क्रिया-व्यापारो से जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह आभ्यंतरीकृत होकर संवेदनाएँ उभारता है और ये सवेदनाएं व्यवस्थित तथा समृद्ध होकर कतिपय निष्कर्षों के साथ कलाकार की चिन्तनधारा बनकर अभिव्यक्त और संप्रेषित होती हैं। यह सही है कि छायावाद की प्रगतिशीलता का स्वरूप सामाजिक यथार्थ से संपृक्त रहकर भी भावनात्मक और संवेदनात्मक अधिक है किन्तु इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि इतनी लम्बी यात्रा तय करने वाला हिन्दी स्वच्छंदतावादी काव्य केवल भावा-वेश पर नहीं जी सकता। दरअसल उसकी विशेष दृष्टि है जिसे उसके 'मानववाद' मे देखना-परखना चाहिए तभी उसके साथ न्याय किया जा सकता है। डॉ० प्रेमशंकर की टिप्पणी है कि यदि हम आज साम्यवादी देशों की समकालीन रचनाओं को देखें तो प्रतीत होता है कि जैसे स्वच्छंदतावाद दूसरे रूपों में लौट रहा हो। रूस और चीन में भी वह अस्पृश्य नहीं है यानी वह अपने व्यापक संवेदनो मे एक बड़ी दुनिया को शामिल किये हुए है। अभिप्राय यह कि स्वच्छंदतावाद एक जीवन्त काव्यधारा है जो नये-नये रूपों में लौटी है।

प्रेमशंकर का समाजशास्त्रीय अध्ययन स्वच्छंदतावाद के कई मौलिक बिन्दुओं

का स्पश करता है जो आलोचना के विकास को गति प्रदान करते हैं इस ग्रथ मे लेखक ने तीन प्रमुख कवियो (वृहत्त्रयी) का अंतरंग विश्लेषण प्रस्तुत किया है और रचनाओं में गहरे जाकर, अपने प्रिय कवियों को जानने-समझने की कोशिश की है। ये समीक्षाएँ प्रमाणित करती हैं कि लेखक ने कवि-कर्म का निर्वाह ईमानदारी से किया है। प्रसाद के 'विकासमान व्यक्तित्व' की उन लकीरों को उजागर किया गया है जो उन्हें 'चित्राधार' की सामान्य ब्रजभाषा कविताओं से 'कामायनी' की ऊँचाइयों तक ले जा सकीं। प्रसाद की स्वच्छंदतावादी काव्य बनावट के बारीक ताने-बाने को ध्यान में रखते हुए प्रेमशंकर के निम्न उद्धरण युक्तिसंगत प्रतीत होते हैं :

(1) 'रचना में आजादी की माँग को वह प्रस्थान-बिन्दु कहा जा सकता है, जहाँ स्वच्छंदतावाद की यात्रा का आरंभ होता है। जाहिर है कि प्रसाद आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को रचना-कर्म के लिए आवश्यक मानते हैं, पर वे उसे अराजक स्थिति तक पहुँचा देने की भूल नहीं करते।'

(2) 'व्यक्ति-संवेदन का विस्तार और फिर समाज-संवेदनों से उसकी मुलाकात, रचना को ऊँचाइयों पर ले जाती है और 'आँसू' का दूसरा संस्करण इसी दिशा में एक सार्थक प्रयत्न है।'

(3) 'पुराणों की दुनिया को रूमानी ढंग से नया मोड़ देने की चेष्टा है—कामायनी। प्रसाद के व्यक्तित्व का संपूर्ण प्रकाशन तो इसमें है ही, इसके अतिरिक्त स्वच्छंदतावादी काव्य की उपलब्धियाँ और सीमाए उसमें साथ-साथ देखी जा सकती हैं। एक क्लासिक के रूप में उसका स्थान सुरक्षित है क्योंकि उसमें छायावादी काव्य की अधिकांश संभावनाओं का उपयोग हुआ है।'

निराला की जीवन रेखाओं और उनकी रचना के अन्तर्ग्रथित सूत्रों को तलाशते हुए लेखक ने स्पष्ट किया है कि निराला ने अपनी आंतरिक पीड़ा और अपराजेय व्यक्तित्व को कविताओं में प्रक्षेपित किया है फिर भी वे वैयक्तिक अनुभूतियों से ऊपर उठने की शक्ति में अद्वितीय रहे। प्रेमशंकर के शब्द है : "उन्होंने स्वच्छंदतावादी काव्य को विस्तृत आयाम दिये इसलिए हिन्दी प्रगतिवाद उन्हे प्रस्थान-बिन्दु स्वीकारता है और नया हिंदी काव्य उनमें अपना पूर्वाभास देखता है।" यह बात भी हमारी दृष्टि से ओझल नहीं होनी चाहिए कि जिस छायावादी भाषा-शिल्प से प्रगतिशील यथार्थवादी काव्य भाषा उद्भूत हुई है, उसका पर्याप्त श्रेय निराला की बदलती काव्य-भाषा और काव्यचेतना को दिया जा सकता है, जो जन-मन के भावों को स्वाभाविकता के साथ सहेजती है। परवर्ती 'पन्त' जरूरत से ज्यादा दर्शन का आख्यान करने लगे इसीलिए प्रेमशंकर ने उनके विविध काव्य चरणों की तार्किक एवं युक्तिसंगत चर्चा करते हुए अपनी उपसंहारात्मक पंक्तियो

मे दो टूक बात कही है यदि दशन चिन्तन की मुद्राए पत पर हावी न हो जाती और वे जीवन-दृश्यों से अपनी संलग्नता बनाये रखते तो उन्हें अपने रचनात्मक व्यक्तित्व का संयोजन करने में कठिनाई न होती। स्वच्छंदतावाद को आध्यात्मिक समापन देने की कोशिश में वे अपनी मूल भूमि से अलग हो गये।'

जहाँ तक महादेवी के काव्य का सवाल है, उसमें एकरसता है, वैविध्य नहीं। वे एक ही पथ पर अग्रसर होती रहीं फिर भी हिन्दी स्वच्छंदतावादी काव्य की एक दिशा का संकेत उनमें मौजूद है, कुछ-कुछ 'मेटाफिजिकल' जिसे रहस्यवाद कह दिया गया है पर है वह तत्त्वचिन्तन। प्रेमशंकर की राय में "महादेवी का काव्य प्रमाणिक करता है कि वे अपनी सीमाओं को जानकर उसी में अपनी प्रतिभा को नियोजित करने से रचना में अपने लिये एक स्थान बना लेती हैं, भले ही उसे अनेक आयामों वाली विराटता का गौरव न मिले।''''''महादेवी की मूल बनावट असाम्प्रदायिक है और उसमें जिस रागात्मकता का आग्रह है, वह स्वच्छंदतावाद की रूमानी-वृत्ति से आई है तथा रहस्यवादी संकेत आध्यात्मिक चेतना से उपजे हैं।" हमारी विनम्र राय में महादेवी की विवेचना में कुछ और पृष्ठ होते तो तत्त्व-चिन्तन की सही लकीरों को बेहतर ढंग से उजागर किया जा सकता था।

एक विचारणीय प्रश्न हमारे दिमाग में उभरता है कि आचार्य वाजपेयी के योग्य शिष्य प्रेमशंकर ने पंडितजी से छायावाद समझकर फिर किस नये रूप मे उसे जाना-पहचाना? उन्होंने स्वच्छंदतावाद की समीक्षा को किन नई लकीरो से नई इबारत में गढ़ा? यों तो 'प्रसाद का काव्य और कामायनी की रचना-ससार' को भी केंद्र में रखा जाना चाहिए तभी समग्रता में बात कही जा सकती है फिर भी 'हिन्दी स्वच्छंदतावादी काव्य' को ध्यान में रखते हुए लेखक की प्रखर आलोचना-दृष्टि को कुछ खास बिन्दुओं पर रेखांकित किया जा सकता है। मूलत: प्रेमशंकर की आलोचना-दृष्टि युगानुकूल कविता की समाजशास्त्रीयता पर एक सजीदा सोच का प्रतिफल है। वे 'कविता की जमीन की सही समझ' के लिए केवल रचना के सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्व को ही नहीं देखते अपितु 'स्वीकृति और निषेध की द्वन्द्वात्मकता' को परखते हुए सश्लिष्ट जीवन की वस्तुपरकता को भी देखते हैं। उनके प्रतिमान अकादमिक नहीं हैं, बल्कि मनुष्य को केन्द्र में रखकर मूल्यगत चिन्ता से उपजे हैं और यही उनकी समीक्षा का सौन्दर्यशास्त्र है। व्यक्ति-सवेदन को समाज-संवेदन से जोड़कर देखना, वृहत्तर मानव समाज को सम्बोधित करना, संवेदना के स्तर पर मूल्यों को प्रक्षेपित करना—आदि कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं जिन्हें लेखक ने अपनी समीक्षा का आधार बनाया है और जो सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक समीक्षा के अपेक्षित तालमेल को स्वत:सिद्ध करते हैं। सामयिक परिवेश, अंतर्विरोध, मध्यवर्गीय मानसिकता, रचनाकार के व्यक्तित्व की बनावट आदि का सूक्ष्म विश्लेषण उनकी समीक्षा को धारदार एवं प्रामाणिक बनाते हैं।

समीक्षा का नया मुहावरा, आकर्षक शैली की प्रभविष्णुता और संप्रेषणीयता की सहजता ने प्रेमशंकर के कवि-आलोचक व्यक्तित्व को समकालीन साहित्य में एक स्थायी मुहर का हकदार बना दिया है। उन्होंने आचार्य वाजपेयी के स्वच्छंदतावादी विवेचन-विश्लेषण में एक नया अध्याय जोड़ा है, अतः निर्विवाद रूप से वे इस धारा के इने-गिने समीक्षकों और शोधकर्ताओं में हैं : अपने अलग वैशिष्ट्य के साथ, संभवतः पंडितजी के बाद पहला एक महत्वपूर्ण नाम। यों भी भक्ति-चिन्तन से नई कविता तक की लंबी समीक्षा-यात्रा करने वालों की संख्या बहुत विरल है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

गुलाब सिंह

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावाद के साथ-साथ यात्रा की और इस काव्य-आन्दोलन को पाठकों तक सही सन्दर्भ में पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। जिस दौर में छायावाद पर पुरातनपंथियों के आक्रमण हो रहे थे, उस समय वाजपेयीजी ने प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी के काव्य का अन्तरंग विवेचन प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' को एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान कहा जा सकता है, जहां छायावाद को सामाजिक-सांस्कृतिक पीठिका के साथ देखा-परखा गया है। डॉ० निर्मला जैन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी समीक्षा : बीसवीं शताब्दी' में वाजपेयीजी को 'हरावल दस्ता' कहकर सम्बोधित किया है, जो स्वयं में एक महत्त्वपूर्ण आशंसापत्र है। आधुनिकतावाद के गैर रोमानी दबावो मे वाजपेयीजी का स्वच्छन्दतावादी काव्य चिन्तन किंचित हाशिए पर जाता दिखाई देता है। ऐसे में डॉ० प्रेमशंकर द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'नन्ददुलारे वाजपेयी' एक सार्थक-प्रासंगिक प्रयत्न है।

डॉ० प्रेमशंकर वाजपेयीजी के प्रिय शिष्यों में रहे हैं। वे काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में उनके निकट सम्पर्क में आए और बाद में सागर में। 'प्रसाद का काव्य' आचार्य वाजपेयी के निर्देशन में लिखा गया पहला शोधप्रयत्न है। डॉ० प्रेमशकर को सही अर्थो में आचार्य वाजपेयी को पास से देखने-जानने का सुयोग उपलब्ध रहा है। साहित्य अकादेमी के लिए लिखी गयी, लगभग सौ पृष्ठों की इस पुस्तक मे पाँच निबन्ध हैं: 1. जीवन रेखाएँ और व्यक्तित्व, 2. रचना यात्रा और कृतित्व, 3. पत्रकारिता और सम्पादन, 4. आचार्य वाजपेयी और स्वच्छन्दतावाद, 5. निष्कर्ष और समापन। जाहिर है कि इन शीर्षकों के माध्यम से वाजपेयीजी के बहुआयामी व्यक्तित्व की पड़ताल का सक्षम प्रयास किया गया है।

पुस्तक का आरम्भ आचार्य वाजपेयी के सम्बन्ध में निराला के वक्तव्य से होता है जिससे उन दोनो की निकटता का मिलता है जीवन-रेखाओं की

पितों की भूमिका तथा महात्मा गांधी और आर्य-समाज के विशेष प्रभावों का उल्लेख किया है। इससे वाजपेयीजी की सामाजिक चेतना का निर्माण होता है जिस पर राष्ट्रीयता और आदर्शवाद का विशेष प्रभाव है। आचार्य वाजपेयी के जीवन मे संघर्ष के क्षण भी रहे हैं, जिन्होंने उनके आत्मविश्वास को और भी विकसित किया। जीविका की तलाश में वाजपेयीजी ने प्रयाग में 'भारत' का सम्पादन किया और गोरखपुर में 'रामचरितमानस' का तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा में 'सूरसागर' का कार्य सम्पन्न किया। वाजपेयीजी के जीवन में थोड़ी स्थिरता तब आयी जब वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक हुए। काशी के बाद उन्होंने सबसे अधिक समय सागर विश्वविद्यालय में व्यतीत किया, जहाँ उन्होंने विद्यार्थियों की कई पीढ़ियों का निर्माण किया। डॉ० प्रेमशंकर रेखांकित करना चाहते है कि काशी मे आचार्य वाजपेयी आधुनिक बोध के अध्यापक थे और उन्होंने प्रगतिशील लेखक सघ के सभापति के रूप में नयी पीढ़ी को नयी प्रेरणाएँ दीं।

आचार्य वाजपेयी के लेखन का फलक पर्याप्त व्यापक है, उन्होंने आरम्भ मे कविताएँ लिखीं जो 'माधुरी' और 'विशाल भारत' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओ मे छपीं पर वाजपेयीजी जल्दी ही समीक्षा की भूमि पर आ गए। उन्हें छायावाद के प्रबल समर्थक और स्वच्छन्दतावादी आलोचक के रूप में ख्याति मिली। साथ ही उन्होंने गीता प्रेस गोरखपुर से रामचरितमानस का सम्पादन किया और 'तुलसी के अध्ययन में बाधा' जैसे निबन्ध लिखकर हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि कालजयी कवि पर सही दृष्टि से विचार होना चाहिए। वाजपेयीजी ने तुलसी पर नयी दृष्टि डाली और यदि उनके समस्त निबन्ध एक पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो सकते तो तुलसी पर हमें नयी मौलिक सामग्री प्राप्त होती। उन्होंने काशी नागरी प्रचारिणी सभा से 'सूरसागर' का सम्पादन किया जो आज भी सबसे प्रामाणिक प्रयत्न है। अपनी पुस्तक 'महाकवि सूरदास' में वाजपेयीजी ने तुलसी और सूर की तुलना जैसे प्रश्नों को कोई अहमियत नहीं दी। उनका विचार है कि गीतात्मक सम्वेदन में सूर अद्वितीय हैं जबकि तुलसी में जीवन का वैविध्य है। जहाँ तक भावना-संसार का प्रश्न है सूर अपनी गीतात्मकता में गहरे उतरते हैं और उनका काव्य मार्मिकता प्राप्त करता है। इस प्रकार वाजपेयीजी दोनों कालजयी कवियो के विषय में मौलिक विचार व्यक्त करते हैं।

वाजपेयीजी का मुख्य कार्यक्षेत्र आधुनिक साहित्य है और छायावाद के तो वे सबसे समर्थ समीक्षक माने जाते हैं। जयशंकर प्रसाद, हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, आधुनिक साहित्य, कवि निराला, कवि सुमित्रानन्दन पंत आदि में उन्होंने छायावाद के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। डॉ० प्रेमशंकर की मान्यता है कि आचार्य वाजपेयी व्यावहारिक समीक्षा के भीतर से सैद्धान्तिक समीक्षा के सूत्र निष्पादित करते हैं। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' पर विचार करते हुए वे प्रगति-

शीलता की अपनी परिभाषा प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं "प्रसादजी एक नये साहित्य युग के निर्माता ही नहीं हैं, एक नयी विचार शैली और नव्य दर्शन के उद्भावक भी हैं। उनमें अपने युग की प्रगतिशीलता प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। यही नहीं वे एक बड़ी हद तक भविष्यदृष्टा और आगम के विधायक भी हैं। सभी महान् साहित्यकारों की भाँति उन्होंने अपने युग की प्रगतिशील शक्तियों को पहचाना और उन्हें अभिव्यक्ति दी।" (जयशंकर प्रसाद, भूमिका, पृ० 2)

डॉ० प्रेमशंकर का विचार है कि हिन्दी समीक्षा में 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' की भूमिका ऐतिहासिक है। इसके कुछ निबन्ध उस समय के 'भारत' (प्रयाग) पत्र में प्रकाशित हुए थे, जब आचार्य वाजपेयी उसके सम्पादक थे। इसकी 'विज्ञप्ति' शीर्षक लम्बी भूमिका में उन्होंने छायावाद-युग के कलात्मक उत्कर्ष का विशेष उल्लेख किया है। डॉ० प्रेमशंकर ने इस तथ्य को रेखांकित किया है कि जब 'तारसप्तक' का प्रकाशन हुआ तो वाजपेयीजी ने अज्ञेय की भूमिका को लेकर तीखी टिप्पणियाँ कीं और प्रयोगवाद को 'बैठेठाले का धन्धा' कहा किन्तु अपने अन्तिम क्षणों में उन्होंने 'नयी कविता' को अच्छा प्रमाणपत्र दिया। 1976 मे प्रकाशित 'नयी कविता' में इसे विशेष रूप से देखा जा सकता है। इस प्रकार आचार्य वाजपेयी प्राचीन काव्य से लेकर नये साहित्य तक का विवेचन करते है और अपनी समझ/समीक्षा के विस्तृत फलक का परिचय देते हैं।

पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है—'पत्रकारिता और सम्पादन' का। आचार्य वाजपेयी 1930 में प्रयाग के 'भारत' नामक पत्र के सम्पादक थे और उन्होंने इसके माध्यम से राजनीतिक टिप्पणियाँ भी की हैं। डॉ० प्रेमशंकर ने बड़े परिश्रम के साथ इस सामग्री का संकलन किया है—जिस ओर प्राय: हमारा ध्यान नहीं जाता। इससे आचार्य वाजपेयी का सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतनावाला रूप उभरता है। जैसे वाजपेयीजी हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जोर देते हुए लिखते हैं "दो अद्भुत महान जातियाँ अपना भविष्य ढूँढ़ रही हैं। दोनों महान है···दोनों एक दूसरे की अपेक्षिणी हैं, पूरिका है। दोनों मिलकर जगत को रहने योग्य बना सकती हैं, उसके उच्चतम उद्देश्यों की पूर्ति कर सकती हैं। दोनो एक साथ ससार की प्रगति में सहायक हो सकती हैं, उसे आगे बढ़ाकर पूर्ण बना सकती हैं···गंगा-यमुना की भाँति दोनों के विचार-प्रवाह एक-दूसरे से मिलें।"

आचार्य वाजपेयी के पिता महात्मा गांधी के अनुयायी थे और हजारीबाग जेल मे डॉ० राजेन्द्रप्रसाद उनके साथी थे। इस प्रकार वाजपेयीजी को एक सजग राष्ट्रीय चेतना विरासत में मिली जिसे 'भारत' पत्र के लेखों में देखा जा सकता है। आगे चलकर उन्होने अपनी एक पुस्तक का नामकरण ही किया 'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध'। यदि भारत के सम्पादकीयों से गुजरा जाय तो वाजपेयीजी की राष्ट्रीय भावनाओं का सही परिचय मिलता है। इस दृष्टि से वे जातीय गौरव,

देश प्रेम आदि पर बल देते है और साहित्य मे भी विदेशी कलम का विरोध करते है। डॉ० प्रेमशंकर ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि वाजपेयीजी ने सन् 1931 के 'भारत' के सम्पादकीय में **साहित्यिक साम्यवाद** शब्द का प्रयोग किया और इससे उनकी सजग दृष्टि का पता चलता है। जब वाजपेयीजी नवम्बर 1932 में 'भारत' के सम्पादकत्व से त्याग-पत्र दे रहे थे, उन्होंने राजनीति को अपनी परिस्थितियों की उपज बताया और साहित्य को अपने जीवन की अमूल्य वस्तु। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा "जो कुछ मैं सत्य समझता हूं, उसके लिए मैं अकेला ही अपने को पर्याप्त पाता हूँ।" डॉ० प्रेमशंकर से आचार्य वाजपेयी के 'भारत' सम्पादन काल को, उनके समीक्षक-व्यक्तित्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका के रूप मे चित्रित किया है।

आचार्य वाजपेयी ने राजकमल प्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'आलोचना' का सम्पादन-भार 1956 में ग्रहण किया और 1959 तक इसका निर्वाह किया। डॉ० प्रेमशंकर का विचार है कि 'आलोचना' पत्रिका इसके पूर्व उन लोगों के हाथ मे थी जिनका सम्बन्ध प्रयोगवाद से अधिक था। आचार्य वाजपेयी ने अपने पहले ही सम्पादकीय में 'साहित्य में खण्ड दृष्टि' का विरोध करते हुए कहा कि हमें एक 'समग्र दृष्टि' से काम लेना होगा। आचार्य वाजपेयी के समय में 'आलोचना' विभिन्न प्रकार के विचारों का मंच बनी और अनेक लेखक इसमें सम्मिलित हुए। इतना ही नहीं, कई युवा लेखक इसके माध्यम से प्रकाश में आये। आचार्य वाजपेयी ने प्रतिपादित किया कि साहित्य में वैविध्य और गहराई दोनों की आवश्यकता होती है और विराट प्रतिभाएँ ही उसे सम्पादित कर सकती हैं। डॉ० प्रेमशंकर का विचार है कि आचार्य वाजपेयी के सम्पादन काल में 'आलोचना' को एक सन्तुलित आधार प्राप्त हुआ।

आचार्य वाजपेयी पर विचार करते हुए डॉ० प्रेमशंकर ने कई अनछुए पक्षो का उल्लेख किया है पर उनका बल वाजपेयीजी के स्वच्छन्दतावादी काव्य-विवेचन पर है। छायावाद को लेकर वाजपेयीजी की पहली टकराहट अपने यशस्वी गुरु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से हुई। उन्होंने कहा : "छायावाद को हम पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक-प्रणाली-विशेष नही मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्‌गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टत: प्रथम अस्तित्व और गहराई है।" इस प्रकार वाजपेयीजी ने छायावाद को उसके सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भों में देखा और डॉ० निर्मला जैन की यह टिप्पणी सही है कि "नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रबल विरोधों के रहते हुए भी छायावादी काव्य के सौन्दर्य का उद्‌घाटन करके उसके महत्त्व प्रतिपादन का हौसला दिखाया।" (हिन्दी आलोचना : बीसवीं शताब्दी, पृ० 47) इस दृष्टि से वाजपेयीजी की भूमिका

ऐतिहासिक है। इतना ही नहीं, आचार्य वाजपेयी छायावाद को एक कला-आन्दोलन मानने से इन्कार करते हैं और इसे पिछड़ी सामाजिक-साहित्यिक परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह का युग कहते हैं। वाजपेयीजी आध्यात्मिक सौन्दर्यबोध को छायावादी कविता का केन्द्रीय उपकरण मानते हुए लिखते हैं : "मानव अथवा प्रकृति मे सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान, मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।" डॉ० प्रेमशंकर इसे स्पष्ट करते हुए कहते है कि वाजपेयीजी इसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न मानकर, मानवीय और सांस्कृतिक मानते हैं। भक्तिकाव्य और छायावाद में यह मूलभूत अन्तर है। डॉ० प्रेमशंकर ने आचार्य वाजपेयी के स्वच्छंदतावादी काव्य चिन्तन पर विचार करते हुए, इस बात का उल्लेख किया है कि वे छायावादी काव्य को जीवन के सन्दर्भ में रखकर देखते है। वे जब छायावाद को 'सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान' कहते हैं, तब उनके सामने मनुष्य सम्बन्धी चिन्ताएँ उपस्थित हैं। वाजपेयीजी लिखते हैं : "छायावादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामाजिक जीवन की परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनुप्राणित है।" इसे वे 'विद्रोह की वाणी' तक कहते है जिसमें वैयक्तिक स्वतन्त्र-भावना तो है, पर मनुष्य को केन्द्र में स्वीकार करती हुई।

वाजपेयीजी ने प्रसाद, पंत, निराला पर स्वतन्त्र पुस्तकें रचीं और इन कवियो के माध्यम से अपने विचारों को स्पष्ट किया। डॉ० प्रेमशंकर का विचार है कि सन् 1939-40 में प्रकाशित 'जयशकर प्रसाद' आचार्य वाजपेयी की आरम्भिक पुस्तक है फिर भी उनकी प्रखर समीक्षक-प्रतिभा को यहाँ देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए—वाजपेयीजी कामायनी को अपने समय की जटिलताओं को व्यक्त करने वाला काव्य कहते हैं। कई दृष्टियों से निराला वाजपेयीजी के प्रिय रचनाकार हैं और वे उन्हें 'वैविध्य का कवि' कहकर उनके व्यक्तित्व की कई दिशाओ का उल्लेख करते हैं। आचार्य वाजपेयी का विचार है कि निराला की मूलचेतना अन्तिम समय तक स्वच्छन्दतावादी बनी रहती है जिसकी विभिन्न ध्वनियाँ हम उनके काव्य में सुन सकते हैं। इसकी तुलना में पन्त के काव्य में नियति के क्षण आते है जिसके विषय में वाजपेयीजी की टिप्पणी है कि वे कवि के बदले कलाकार अधिक हो गए हैं।

डॉ० प्रेमशंकर पुस्तक के समापन में आचार्य वाजपेयी के व्यक्तित्व की कई दिशाओं का संकेत करते हैं—अध्यापक, समीक्षक, विचारक, पत्रकार आदि। पर मुख्य रूप से उनका संवेदन पक्ष, विचारजगत तथा समीक्षा-प्रतिभा विचारणीय है। डॉ० प्रेमशंकर प्रश्न उठाते हैं, क्या आचार्य वाजपेयी स्वच्छन्दतावादी समीक्षादृष्टि के कारण नये साहित्य, विशेषतया प्रयोगवाद तथा सामाजिक यथार्थ को अपनी सम्पूर्ण सहानुभूति उसी प्रकार नहीं दे पाते, जो बात प्रायः उनके गुरु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के छायावाद सम्बन्धी विवेचन को लेकर कही जाती है ? दरअसल,

वाजपेयीजी का बल राष्ट्रीय चेतना और मानवीय भावना के साथ कलात्मक उत्कर्ष पर भी है। वे कहते हैं कि देश में पश्चिमी कलम लगाना बहुत उचित नही है। इस प्रकार वे उन आयातित दृष्टियों का समर्थन नहीं करते जो जातीय परंपरा से मेल नहीं खाती और यहाँ वे मार्क्सवादी रामविलास शर्मा से काफी सहमत दिखाई देते हैं। वाजपेयीजी वाल्मीकि और कालिदास को राष्ट्रीय कवि कहते हैं, क्योंकि वे हमारी सस्कृति का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व करते हैं। इसे आचार्य वाजपेयी के विकासमान व्यक्तित्व का एक लक्षण कहा जायेगा कि वे मुक्तिबोध, कुंवरनारायण और केदारनाथ सिंह जैसे कवियों का उल्लेख नयी कविता के सन्दर्भ में करते है। नवीनतम से साक्षात्कार कठिन होता है, पर आचार्य वाजपेयी ने यह प्रयत्न किया है। आचार्य वाजपेयी जीवन की व्यापकता को स्वीकार करते हुए, उसमें राजनीति, समाजशास्त्र, आदि की भूमिका भी मानते हैं पर उनका स्पष्ट मत है कि "जीवन तो एक धारा प्रवाह है, साहित्य में उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूंदें एकत्र की जाती हैं।"

डॉ० प्रेमशंकर का मन्तव्य है कि वाजपेयीजी स्वच्छन्दतावाद के व्याख्याता होते हुए भी कहीं क्लासिकी और रोमांटिक की मिलन भूमि पर स्थित हैं। जब वे कलात्मक सौष्ठव का आग्रह करते हैं तो उनके सामने क्लासिक्स की अवधारणा है। डॉ० प्रेमशंकर का मत है कि स्वयं आचार्य वाजपेयी की समीक्षा भाषा में क्लासिकी ढग का भाषायी अभिजात्य देखा जा सकता है। इस प्रकार डॉ० प्रेमशंकर की पुस्तक 'नन्ददुलारे वाजपेयी' आचार्य वाजपेयी के व्यक्तित्व की कई दिशाओं को ध्यान में रखकर लिखी गई है जबकि प्रायः उन्हें समीक्षक तक ही सीमित कर दिया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि डॉ० प्रेमशंकर आचार्य वाजपेयी का एक वैविध्य-भरा व्यक्तित्व उभारने में सफल हुए हैं।

भक्तिकाल की चिन्तन परम्परा

कुंवरपाल सिंह

डॉ० प्रेमशंकर हमारे समय के उन आलोचकों में हैं जिन्होंने भक्तिकाल जैसे जटिल और संश्लिष्ट विषय से निरन्तर जूझने का प्रयास किया है। भक्तिकालीन साहित्य को प्रेमशंकरजी ने इतिहास, दर्शन, संस्कृति और तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखने-परखने का गम्भीर और सार्थक प्रयत्न किया है। अब तक उनके बारह आलोचनात्मक और शोधग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिसमे से छः भक्तिकाव्य पर आधारित हैं। उन्होंने उन मुद्दों पर सार्थक बहस उठाई है जो स्वतन्त्रता के बाद हमारे आलोचकों की दृष्टि से ओझल हो गये। भक्तिकाल की चिन्तन परम्परा में जटिलताओं के साथ अनेक अन्तर्विरोध भी है। भक्तिकाल में हमें धार्मिक क्रान्ति और सामाजिक परिवर्तनों का स्पष्ट स्वर सुनाई देता है। शास्त्रीय सौन्दर्यशास्त्र के स्थान पर एक जनसाधारण से जुड़े हुए शास्त्र की स्थापना का प्रयास है। धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति की अपनी सीमा होती है। समाज में मूलभूत परिवर्तन तो राजनैतिक और आर्थिक क्रान्ति से ही सम्भव है, लेकिन भक्ति-चिन्तन ने शताब्दियों की जड़ वर्ण व्यवस्था, धार्मिक आडम्बरों, सामाजिक कुरीतियों को झकझोरकर रख दिया। शासकवर्गों के अभिजात सौन्दर्यबोध के सामने प्रश्नचिह्न लगाया। जातीय भाषाओं के साहित्य के प्राचीन बोध का अतिक्रमण किया और जनसामान्य की भाषा में एक नये सौन्दर्यबोध की संरचना का प्रयत्न किया। परम्परा की पुनर्व्याख्या करके उसे अधिक मानवीय सार्थकता प्रदान की।

भक्ति आन्दोलन अपने मूल चरित्र में सामन्त-विरोधी और लोकवादी है। भक्त और सन्तों ने भक्त और भगवान की समानता की बात कही है। यह सम्बन्ध राजा और प्रजा की समानता के छोरों को छूता है। तुलसीदास ने इन सम्बन्धो की व्याख्या करते हुए लिखा है : 'मोरे मन अस दृढ़ विश्वासा/राम तें अधिक राम कर दासा।' सामाजिक समानता की बात हमें भक्तिकाल के पूरे आन्दोलन मे दिखाई देती है। मनुष्य भक्ति से श्रेष्ठ होता है जन्म से नहीं। यह आन्दोलन

भारतीय जनता का सांस्कृतिक आन्दोलन बन गया था जो शताब्दियों से सामन्तों और उनके सहयोगी पुरोहित वर्ग के अत्याचारों और अनाचारों से पीड़ित रही है। इस आन्दोलन को और इसकी चिन्तन परम्परा को मध्यकाल के नये परिवर्तनों से बहुत बल मिला। मध्यकाल में नये तकनीकी विकास ने उन वर्गों को पहली बार केन्द्र में स्थापित किया जो शताब्दियों से हाशिये पर थे। इन लोगों ने लोक-वादी परम्परा का विकास और विस्तार किया। 'कर्म ही जीवन है' यह मन्त्र देकर भाग्यवाद का विरोध किया। इसके पीछे व्यापारी और शिल्पी वर्ग की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। प्रो० इरफान हबीब का कहना है कि कृषि के लिए लोग सामन्तों पर आश्रित थे।[1]

हमें यहाँ मायावादी चिन्तनधारा का भी विरोध मिलता है। जगत को मिथ्या बताने की प्रमुख धारा यहाँ क्षीण हो जाती है। डॉ० प्रेमशंकर ने संकेत किया है कि शांकर वेदान्त से वैष्णवाचार्यों की वैचारिक टकराहट हुई।[2] भक्ति कवियों मे लौकिक जीवन और मनुष्य की ओर ध्यान आकृष्ट करके भाववादी चिन्तन परम्परा के सामने प्रश्नचिह्न लगाया है। वर्णवाद, रूढ़िवाद का ही पर्याय है और इससे सदैव शासकवर्ग की हित साधना होती है। भक्तिकाल की मूल चिन्तन धारा मे मनुष्य की श्रेष्ठता कर्म से होती है वर्ण से नहीं, यह स्वर हमें बार-बार सुनाई देता है। सन्तों में ईश्वर व्यक्तिगत है, यह तमाम परम्पराओं से हटकर है। इस्लाम का भी इस चिन्तनधारा पर बौद्धिक प्रभाव है परन्तु आंशिक रूप में ही। भक्ति-काल पर हमें सिद्धों और नाथों का अधिक प्रभाव दिखाई देता है। ये सन्त अपने चिन्तन और व्यवहार में वैदिक और इस्लामी उपासना पद्धति के विरोधी हैं। सन्तों के लिए ईश्वर शाह है, जो पूंजी देता है जिसे ब्याज के साथ चुकाना है। यह हिन्दू धर्म और इस्लाम का समन्वय नहीं है बल्कि एक नया मार्ग है। इसने करोड़ों साधनहीनों के लिए ईश्वर का मार्ग खोल दिया जो अब तक लगभग बन्द था। इनका साहित्यिक योगदान महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने लोकभाषाओं को साहित्यिक भाषा का रूप दिया। ब्रज और अवधी देश की प्रमुख साहित्यिक भाषाएँ इसी काल में बनीं, लेकिन भक्तिकालीन चिन्तन परम्परा की अपनी सीमाएँ हैं। ये तमाम विचार राजनैतिक और आर्थिक ढांचे को प्रभावित नहीं कर सके। मूलत. आदर्शवादी आध्यात्मिक चिन्तन पद्धति हमारे जीवन को प्रभावित करती रही। यूरोप की तरह भौतिकवादी विचारधारा का विकास हमारे यहाँ नहीं हुआ। इससे जो औद्योगिक क्रान्ति हो सकती थी वह भारत में नहीं हो सकी, वह केवल व्यापारिक पूंजीवाद तक ही सीमित रही जिसकी ओर डॉ० रामविलास शर्मा ने संकेत किया है। इसके क्या कारण हो सकते हैं, इस पर आज गम्भीर विचार-मन्थन की आवश्यकता है।

बारहवीं-तेरहवीं शताब्दियों में शहरीकरण की लहर उत्तर भारत में फैलने

लगी थी यहाँ का नया शासक वर्ग नगर मे रहना अधिक पसन्द करता था . कृषि और अन्य नये उत्पादन बढ़ने के कारण लगान बढ़ाने की माँग में भी वृद्धि हुई। यही बढ़ी हुई माँग तुर्क शासक वर्ग को उत्तराधिकार में मिली जिसे उन्होंने शासन व्यवस्था का केन्द्रीयकरण करके और अधिक सुव्यवस्थित किया। इस प्रकार इस शासक वर्ग को कर पहले से कहीं अधिक उपलब्ध थे, जिन्हें अधिकतर शहरों मे ही व्यय किया जाता था। इसी कारण कई नये शिल्पों का विकास हुआ जिनमे प्रधानत: नये ढंग की स्थापत्य कला, कागज बनाना, रुई साफ करने के नये तरीके और आतिशबाजी को लिया जा सकता है।[3]

इन नई परिस्थितियों के सन्दर्भ में भक्ति आन्दोलन के परिवर्तन का भी पक्ष सार्थक रूप में विकसित होता है जिसका सबसे शक्तिशाली चित्रण कबीर, नानक, रैदास, दादू दयाल आदि के साहित्य में हुआ है। एक ओर आर्थिक उत्पादन मे कुशलता और वृद्धि जिसके कारण किसानों और दस्तकारों में शोषण और अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना की प्रखर अभिव्यक्ति मिलती है। दूसरी ओर राज्य-शक्ति की बढ़ती हुई माँग तथा विशेषकर राज्य कर्मचारियों के भ्रष्टाचार तथा तीसरी ओर सामाजिक अत्याचार जिसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण जाति-प्रथा है। सामाजिक और प्रशासनिक अत्याचार के प्रति विरोध की भावना का सबसे मर्मान्तिक चित्रण कबीर और नानक के पदों में हुआ है। कवियों ने सामाजिक विद्रूपों पर तीखे आघात किये परन्तु इनकी भावना नैतिकता-स्तर की सीमा पर अधिक केन्द्रित रही है। कबीर के शब्दों में : अहंकार आदि है मूला/राजा परजा एकहि सूला॥ भक्तिकाल के पथप्रदर्शकों ने अपने काल के सभी सामाजिक वर्गों के सामने प्रश्नचिह्न लगाये परन्तु राजनीतिक संस्थाओं को स्वीकार करते हुए केवल यह नैतिक आपत्ति की कि इन संस्थाओं के संचालक अपने अधिकार और दायित्व का दुरुपयोग करते हैं और यह आशा व्यक्त की कि हर व्यक्ति पूरी ईमानदारी के साथ अपने कर्तव्य का निर्वाह करेगा, इसी में व्यक्ति और समाज का भला है : दादू से मोमिन मोम दिल होई।

भक्तिकालीन सन्तों ने छोटे किसान, जुलाहे और अन्य साधारण व्यक्तियों की तुलना ईश्वर से की है। इस तरह इन छोटे लोगों के स्तर को अपनी कल्पना में ऊँचा उठाया है। उन्होंने यह कल्पना ईश्वर और उसके दरबार के प्रतिरूप में की है। डॉ० प्रेमशंकर इसे कवियों का 'समानान्तर संसार' कहते हैं।[4] दादू दयाल, ईश्वर को साहिब, सुल्तान, महाराज, राव आदि की संज्ञा देते हैं। कबीर, दादू, ईश्वर या गुरु और मानवीय सम्बन्धों को भी उसी रूप में देखते हैं जिसमें कि समसामयिक राजनीतिक विचारक या इतिहासकार सम्राट या प्रजा के सम्बन्धों की कल्पना करते हैं। इस कल्पना में गुरु के प्रति व्यक्ति की पूरी निष्ठा होती है। दूसरी ओर गुरु अपने शिष्यों की ओर दया और करुणा का रवैया रखता है।

भक्ति आन्दोलन के, उत्तर भारतीय समाज की सबसे निम्न श्रेणियों और जातियों में इतना लोकप्रिय होने के बाद भी इससे शासक वर्ग को कोई खतरा नहीं दिखाई देता। इस आन्दोलन के केन्द्र में अन्याय के प्रति रोष है किन्तु विद्रोह नहीं। यदि पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के भारत के स्थापित समाज का उन्मूलन करके उसके स्थान पर एक नये समाज की कल्पना सम्भव नहीं थी तो भी उस समाज को झिझोड़ना अनिवार्य था। भक्ति आन्दोलन के नेता समाज की निम्न श्रेणियों और जातियों से सम्बन्धित थे। कबीर बनारस का जुलाहा, नानक छोटा व्यापारी, धन्ना जाट किसान, रैदास चमार और दादू बंजारा था। इन सबने एकेश्वरवाद को अपने सुधार आन्दोलन का आधार बनाया था। एकेश्वरवाद मे सामाजिक समानता का सन्देश निहित होता था जिसके कारण एकेश्वरवाद समाज की उन श्रेणियों के दिल को सबसे अधिक छूता है जिनको सामाजिक असमानता का शिकार होना पड़ता है। इसी पीड़ा का चित्रण उन सन्तों की वाणी में हुआ जिन्हें स्वयं भी इसका अनुभव था लेकिन वह निजी अस्तित्व से कहीं अधिक व्यापक था। जिस रोष के साथ इन कवियों ने वर्ण और जाति-भेद का विरोध किया है उसी में इस वेदना की झलक मिलती है। लेकिन अन्य पहलुओं की भाँति जाति-प्रथा का विरोध भी नैतिक धरातल तक सीमित रहा जबकि इस संस्था की गहरी सामाजिक और आर्थिक नींव थी जिस पर उस समाज का पूरा ढांचा खड़ा था। मध्ययुगीन सन्तों के रोष की अभिव्यक्ति के फलस्वरूप इस प्रथा में लचक अवश्य आई। वैकल्पिक चेतना के अभाव में किसी भी संस्था पर उसके शक्तिशाली वैचारिक आक्रमण का निष्कर्ष यही निकलता है कि उस संस्था में आक्रमणकारी के लिए भी स्थान बन जाता है। इस बात की पुष्टि में सिख समुदाय का निर्माण और विकास एक दिलचस्प उदाहरण है।[5]

यही भक्ति आन्दोलन का मोड़ है। कबीर, रैदास और नानक के शक्तिशाली आक्रमण के फलस्वरूप व्यवस्था में एक लचीलापन आया। यह मोड़ 'रामचरितमानस' में समकालीन सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्र रोष या विरोध के स्थान पर उस समाज के आदर्शपूर्ण ढंग से क्रियाशील होने का आदर्श है। गोस्वामी तुलसीदास में परिवर्तन की कामना नहीं है परन्तु वे सुधार अवश्य चाहते हैं। रामराज्य के रूप में एक यूटोपिया अवश्य प्रस्तुत करते हैं जिसका उल्लेख डॉ० प्रेमशंकर ने किया है।[6]

दूसरे उत्थानकाल में भी हम भक्ति के प्रवाह को पहले लोक प्रवाह के रूप मे ही पाते हैं। शैव व वैष्णव भक्त अधिकांशतया सामान्य जनता के लोग थे और उनकी अतिभावमूलक भक्ति सरल धर्म की द्योतक थी। लेकिन बाद में उनके पद भक्ति गीतों की सरलता, भावोज्ज्वलता और उनकी सौन्दर्य-भावना को पौराणिक अन्धविश्वासों तथा तात्विक मताग्रहों के बीच दबा दिया गया।[7] आलवार भक्तो

के उपरान्त आने वाले वैष्णव आचार्य कट्टर धार्मिक कुलो के थे और परम्परा गत शास्त्रों की मर्यादाओ की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे।[8] रामानुजाचार्य और रामानन्द जैसे व्यक्तित्व भी जिनकी उदारता की बहुत चर्चा की जाती है, एक सीमा तक ही उदार थे। इस सम्बन्ध में विभिन्न लेखकों ने जो विचार प्रकट किये हैं उनसे प्रकट होता है कि दोनों महापुरुषों की उदारता औपासनिक क्षेत्र तक ही सीमित थी। सच-सच कहा जाये तो रामानुज और रामानन्द में जितनी उदारता थी वह वैष्णव मत में प्राचीन काल से ही रही है। सही सन्दर्भ में देखें तो दोनों आचार्यों ने जो कुछ किया वह भक्ति की उस दोहरी परम्परा का अनुगमन ही था जो मात्र कुछ वैचारिक तथा औपासनिक रियायतें देकर सामाजिक आचार व व्यवस्था में कट्टरता का आग्रह करती रही है। विचार और आचार, सिद्धान्त और व्यवहार का द्वैत हमारे धर्म की, समाजतन्त्र की पुरानी बीमारी है जिसे साहित्यकारों और इतिहासकारों ने प्रायः रेखांकित किया है।[9] उच्च वर्ग के इस वैचारिक और समझौतावादी रुख का एक परिणाम तो यह अवश्य दीखता है कि हिंसात्मक विद्रोह की स्थितियाँ बहुत कम उत्पन्न हुईं।[10] साथ ही दलित जनता को मामूली छूटों के ही सन्तोष से आभास कि भारत की प्राचीन मनीषा अन्य अनेक देशों के बुद्धिजीवियों से अधिक चतुर और व्यवहारकुशल थी।

भक्ति आन्दोलन में कई तरह के रंग और विचार रहे हैं। यह सीमित अर्थों मे ही जन आन्दोलन था, सम्पूर्ण अर्थों में नहीं। यह जनता के जीवन स्तर में किसी परिवर्तन का आह्वान नहीं करता। किसी आर्थिक संरचना का उद्देश्य भी इस आन्दोलन के सामने नहीं है। इस आन्दोलन की दार्शनिक परिणति स्वयं की मुक्ति और ईश्वर से एकात्मक स्थापित करना था। गुरु की सहायता से मोक्ष प्राप्त अथवा प्रभु कृपा पर अधिक बल था।[11] इस आन्दोलन के दार्शनिक लक्ष्य भी भिन्न थे। भक्त और ईश्वर के सम्बन्ध, धर्मग्रन्थों की मान्यता तथा समाज के सम्बन्ध में इनके दृष्टिकोण अलग-अलग हैं। हम इनके विचारों का विश्लेषण करें तो वह सुधारवाद से आगे नहीं बढ़ते। जाति व्यवस्था और ब्राह्मण वर्ग पर इन्होंने चोट जरूर की लेकिन उस ढांचे को तोड़ने में असमर्थ रहे। क्षेत्रों के अनुसार भी इस आन्दोलन की अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं। डॉ० प्रेमशंकर ने भक्तिकाव्य की सामाजिक चेतना पर विचार किया है।[12]

अब महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि मध्यकाल में पूरे देश में यह आन्दोलन लोगो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। समाज की जड़ मान्यताओं, उपासना पद्धति आदि पर उन्होंने प्रश्न-चिह्न लगाये। समाज के उपेक्षित और पीड़ित लोगों को एक सम्मान का जीवन प्रदान करने का मार्ग भी दिखाया फिर आखिर मध्यकाल के आन्दोलन कोई मूलभूत परिवर्तन करने में असमर्थ क्यों रहे? अपने

पुराने ज्ञान-विज्ञान और टैक्नोलॉजी को नये रूप में ढालने में यह क्यों असमर्थ रहे। यूरोप जो भारत से कई दृष्टियों में पिछड़ा हुआ था वह यह काम करने मे कैसे समर्थ हुआ। इन कारणों पर बिना विचार किये हम अपने नव-जागरण पर भी सही ढंग से विचार नहीं कर सकते हैं।

इन प्रश्नों का कोई सीधा-सादा उत्तर देना सम्भव नहीं है, इसे भारत की जटिल सामाजिक-राजनीतिक स्थिति में खोजा जा सकता है। मध्यकाल के इतिहासकारों ने इसके उत्तर देने के प्रयास किये हैं, इस प्रश्न पर बहस जारी है, तमाम तथ्यों का उद्घाटन होगा तभी हम सही निष्कर्षों पर पहुँचने में समर्थ होंगे। सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० इरफान हबीब के अनुसार इसके प्रमुख कारण हैं चिन्तन और साहित्य की भाषा संस्कृत, फारसी का होना, जिसका साधारण जनता से कोई रिश्ता नहीं था। मध्यकाल में भारत तथा इस्लामी दुनिया में दार्शनिकों और स्वतन्त्र चिन्तकों को धर्मशास्त्रियों के मुकाबले कोई महत्त्व नही दिया जाता था। धर्मशास्त्रियों ने सदैव दर्शन और विज्ञान का विरोध किया। ज्ञान-विज्ञान और चिकित्साशास्त्र का प्रयोग केवल शासक वर्ग तक ही सीमित रहा। कट्टर धार्मिक लोग जिनका शासक वर्ग पर बहुत प्रभाव रहा है, तर्कशास्त्र और दर्शन को धर्मविरोधी मानते थे।[13] अबुल फजल ने भारत में वैज्ञानिक चेतना के अभाव पर अपनी महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए लिखा था—"परम्परा की तेज हवा ने ज्ञान के दीपक को सदैव मद्धिम रखा। किसी सम्बन्ध में क्यों और कैसे" का प्रश्न नहीं हो सकता। तर्क करना व्यर्थ है। जाँच, पड़ताल का कार्य कुफ्र की सीमा में आ जाता है। बस जो हमें पिता, अध्यापक, रिश्तेदार, मित्र और पड़ोसियों से मिलता है वही ईश्वर की कृपा समझकर ग्रहण कर लिया जाता है। जो परम्परागत विचारों के विपरीत मत रखते हैं वे अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते। हालांकि कुछ विद्वानों ने अलग मार्ग पर चलने का प्रयास किया लेकिन इस सत्य के पथ पर वे एक सीमा से अधिक कभी नहीं बढ़े (आइ-ने-अकबरी, भाग आठ)।

सूफी सन्तों ने आरम्भ में जड़ परम्पराओं का काफी विरोध करके नया मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास किया। उनका भारत में एक समय व्यापक प्रभाव पड़ा। कठमुल्लापन का उन्होंने विरोध किया। लेकिन धीरे-धीरे धर्मशास्त्रियों और सूफियों के बीच विशेष मतान्तर नहीं रहा। दोनों विचार-धाराओं के लोगो मे एक मूक समझौता हो गया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि भारत में स्वतन्त्र और धर्म की परम्परागत परिभाषाओं से अलग विचारों की जो एक हवा चली थी, वह धीरे-धीरे मन्द पड़ती गयी। इसके पश्चात् सूफी वैचारिकता रहस्यवाद की टेढ़-मेढ़ी पगडंडियों की ओर अग्रसर होती गयी। इस प्रकार वैचारिक संघर्ष और विचारों की द्वन्द्वात्मकता से उत्पन्न नयी विचारधाराओं की सम्भावना नही पनप सकी। सूफियों की भाँति पन्थवादियों का भी एक सीमा तक तर्क-संगत

आधार नही है एक सीमा के बाद विभिन्न पन्थवादी पुराने विचारो का ही मथन करते रहे। एकेश्वरवादियों ने तत्कालीन समाज की बुराइयों पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए समाज को चुनौती देने का जो साहसिक प्रयास किया वह आगे चलकर पन्थ-वाद की परम्परा में धूमिल हो गया। एकेश्वरवाद की पन्थवाद में परिणति, समाज के अन्तर्विरोधों से एक सीमा के बाद संघर्ष के स्थान पर समझौतापरस्ती के कारण हुई।[14]

अकबर उदार सम्राट थे। उन्होंने सुलह-कुल का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जिसका अर्थ था हर धर्म के अच्छे मूल्यों की एकता, सहनशीलता तथा विभिन्नता की स्वीकृति। लेकिन यहाँ भी सम्राट को आध्यात्मिक मार्ग दर्शक के रूप में स्वीकार करना अनिवार्य था। सुलह-कुल का प्रभाव समाज के विभिन्न धार्मिक समुदायों की एकता पर अवश्य पड़ा। विभिन्न समुदायों के प्रति सहानुभूति और सहिष्णुता की भावना को बढ़ाने के लिए भी यह दर्शन सार्थक था लेकिन वह कोई तर्कसंगत विचारधारा प्रतिपादित नहीं कर सकता था। कारण, सुलह-कुल भी धार्मिक ढांचे में यथास्थितिवाद का समर्थन करते हुए, केवल धार्मिक और सामाजिक सम्बन्धों में सुधारवाद का ही एक रूप था (आइ-ने-अकबरी, पृ० 260)। अबुल फजल ने तार्किकता और विज्ञान की बात कही तो उसका विरोध हुआ। उदाहरणस्वरूप अबुल फजल ने गणित, खगोलशास्त्र, वास्तुकला, चिकित्साशास्त्र, इतिहास आदि को शिक्षा के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने पर जोर दिया। भारत के प्राचीन ज्ञान-विज्ञान और दर्शन को भी शिक्षा में शामिल करना चाहिए, यह अबुल फजल का मत था। इसके लिए उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों का व्यापक रूप से अनुवाद कराया। इसका भारी विरोध हुआ और शेख अहमद सरहिन्दी के नेतृत्व मे कट्टरपन्थियों से उपरोक्त शैक्षिक पाठ्यक्रम को मान्यता नहीं दी।

मध्यकाल में एक प्रवृत्ति और भी थी कि साधारण लोगों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। बुद्धिजीवी विशिष्ट वर्ग, साधारण जन का प्रवेश निषिद्ध था। शाह वलीउल्लाह ने तो यहाँ तक कहा है कि शरीयत के कानून तक साधारण लोगों की पहुँच नही होनी चाहिए। इससे अनेक भ्रम उत्पन्न होते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा एक विशिष्ट वर्ग तक ही सदैव सीमित रही। इससे साधारण वर्ग से बुद्धिजीवी और चिन्तक-विचारक वर्ग में रूपान्तरण नही के बराबर हुआ और समाज अनेक नये विचारों की सम्भावनाओं से वंचित रहा। इसके विपरीत योरोप में मध्यकाल तथा आधुनिक काल में, एक बड़ी संख्या मे किसानों की शिक्षा हुई। इस नये शिक्षित वर्ग ने विज्ञान और तकनीकी में क्रान्ति-कारी परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया और भारत में ऐसा कोई वैज्ञानिक अथवा तकनीकी की उन्नति का आधार नहीं बन पाया क्योंकि यहां सभी परिवर्तनकारी प्रवृत्तियाँ केवल सामाजिक एव धार्मिक सुधारों तक ही सीमित

रही तथा शिक्षा विशिष्ट वर्ग की शोभा की वस्तु बन कर रह गयी भक्ति आन्दोलन की यही सीमा है। बादल आये, गरजे भी, परन्तु बिना बरसे चले गये।

सन्दर्भ

1. इरफान हबीब, द एग्रेरियन सिस्टम आफ मुगल इंडिया, पृ० 121
2. प्रेमशंकर, भक्तिकाव्य की भूमिका, पृ० 120
3. इरफान, प्रेसीडेंशियल एड्रेस, हिस्ट्री कांग्रेस (1969)
4. प्रेमशंकर, भक्तिकाव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना, पृ० 71
5. इरफान हबीब, 15-17वीं शताब्दी के एकेश्वरवादी आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (अंग्रेजी अप्रकाशित)
6. प्रेमशंकर, रामकाव्य और तुलसी, पृ० 122
7. के० दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ० 257
8. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० 77-78
9. हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर (हिन्दी साहित्य की भूमिका), पृ० 18
10. नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज, पृ० 78
11. सतीशचन्द्र, उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—आलोचना अंक 76, (मार्च 1986)
12. प्रेमशंकर, भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र, पृ० 140
13. इरफान, रीजन एन्ड साइंस इन मेडिएवल इंडिया (लेख)
14. अतहर अब्बास रिजवी, मुस्लिम रिवाइवलिस्ट मूवमेंट इन नार्दर्न इंडिया—16-17वीं शताब्दी, पृ० 53-55

भक्तिकाव्य की सामाजिक चेतना

अरुण प्रकाश मिश्र

भक्तिकाव्य के सम्यक् मूल्यांकन की परम्परा आचार्य शुक्ल से प्रारम्भ होती है, जिन्होंने लोकमंगल की भावना से साहित्य-मात्र को सम्बद्ध करते हुए साहित्य और समाज के सम्बन्धों की परख की एक नई और सही समझ को सामने रखा। आचार्य शुक्ल का भक्ति-काल और भक्ति-काव्य का किया गया मूल्यांकन इस कारण से भी हिन्दी आलोचना में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आचार्य शुक्ल के भक्ति-काव्य सम्बन्धी चिन्तनों में जो कुछ छूट गया था, रह गया था, उसकी पूर्ति कालान्तर में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, नामवरसिंह आदि महत्त्वपूर्ण आलोचकों ने की। परन्तु इस सम्पूर्ण चिन्तन-अनुशीलन में भक्ति-काव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना को विशिष्ट रूप से रेखांकित करने का श्रेय प्रेमशंकरजी को जाता है। पूर्ववर्ती लगभग सभी आलोचकों-विद्वानों ने भक्ति-काव्य के विशेष संदर्भ में उसके सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकारों पर तो टिप्पणी की है, परन्तु उसे समग्रता और संश्लिष्टता में बारीकी से प्रस्तुत करने का श्रेय डॉ० प्रेमशंकर को ही है, जिन्होंने अपनी कतिपय मान्यताओं के द्वारा भक्तिकाव्य के नवीन पक्षों को उद्घाटित किया है और कतिपय व्याख्याओं के द्वारा भक्ति-कविता और भक्ति-काल के उलझे हुए सम्बन्ध-सूत्रों को सुलझाया है।

यह बात निर्विवाद है कि भक्ति-काव्य का बुनियादी सरोकार भक्ति है, जिसके आशय में मानव-कल्याण की महत् आकांक्षा सन्निहित है। यह आकांक्षा जिस वृत्त की परिधि के आसपास घूमती है वह भक्त-कवियों की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का वृत्त है। इस तरह भक्तिकाव्य में सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना, लोक-मंगल का भाव और भक्ति, तीनों का संग्रथित रूप एकत्रीभूत है। सामंती परिवेश में जन्मी भक्ति की यह जनवादी धारा न मात्र अपने युग की जटिलताओं और संरचना का ही पता देती है बल्कि मध्यकालीन रचनाशीलता की रचना-प्रक्रिया से भी परिचय कराती है। इस संदर्भ में प्रेमशंकरजी का यह निष्कर्ष उद्धरणीय है कि "भक्ति आन्दोलन भारतीय मध्यकाल की रचनाशीलता का

जागरण है, किसी खास बिरादरी का नहीं" और भक्त कवियों ने "एक नई भक्ति-चेतना को विकसित करना चाहा जिसमें···वैकल्पिक आराध्य की तलाश थी।" यह वैकल्पिक आराध्य की तलाश स्वयं में बहुत गहरे मायने रखती है और मौजूदा व्यवस्था के प्रति अनास्था तथा उसे उखाड़कर नई और बेहतर व्यवस्था लाने की क्रांतिकारी चेतना की परिचायक है जो भक्तिकविता को मात्र भक्तिकविता नहीं रहने देती बल्कि उसे परिवर्तन के महान गीतों में तब्दील कर देती है।

भक्तिकालीन सामाजिक संरचना के संदर्भ में देखा जाए तो इस दौर मे सास्कृतिक क्षेत्र में ऐसी उदार प्रवृत्तियाँ सक्रिय थीं जो जातीय सौमनस्य का समर्थन कर रही थीं, उसी प्रकार रचना के विभिन्न क्षेत्रों में ऐसे समन्वयशील तत्त्व अपने ढंग से यही प्रयत्न कर रहे थे। "ये सारे प्रयत्न एक कड़ी या परम्परा के रूप में प्राप्त होते हैं और स्थिति यह है कि महायान, वज्रयान, तंत्र, सहजसाधना, सिद्ध, नाथ, संत में भक्तिकाव्य का एक क्रम मध्यकालीन चिंतनधारा में दिखाई देता है।" इस परम्परा की सही परिप्रेक्ष्यों में पहचान और सम्बन्ध-सूत्रों की तलाश तथा खण्डों में बाँटकर भक्तिकविता को न देखना आदि प्रेमशंकरजी का भक्ति-काव्य के प्रति विशिष्ट प्रदेय है, जो उन्हें भक्तिकविता के अन्य आलोचकों से एक स्तर तक अलगाता है और विशिष्ट बनाता है।

भक्तिकाव्य में सिद्धों की महत्त्वपूर्ण परन्तु विवादास्पद भूमिका रही है। आचार्य शुक्ल ने इसे साहित्य के स्तर पर नकारा है। राहुल सांकृत्यायन आदि ने इसे बहुत चढ़ाया है, परन्तु इस क्रम में संतुलित निष्कर्ष देते हुए प्रेमशंकरजी इस साहित्य के बुनियादी सरोकारों को ही मान्यता देते हैं कि "परवर्ती संत कवियों को सिद्धों की उस प्रखरता ने सबसे अधिक प्रभावित किया, जिसमें उन्होंने रूढ़ियों, जर्जर मान्यताओं, अंधविश्वासों को चुनौती दी। वे 'सिद्धि' को चमत्कार, तिलस्म नहीं मानते, वरन साधना को ही सिद्धि स्वीकारते हैं।" वस्तुतः यह नितान्त सत्य है कि "सिद्धों की विद्रोहशीलता समाज में एक नया उन्मेष लाना चाहती है।" वे कथ्य और अभिव्यक्ति के सभी स्तरों—विषय-वस्तु, प्रस्तुतीकरण, काव्य-रूप, शैली, छंद, भाषा आदि—पर विद्रोह करते हैं और संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की दरबारी शास्त्रीय परम्परा से सीधे टकराते हुए नये प्रतिमान निर्मित करते हैं। सिद्धों की यही चेतना नाथ-पंथ में और विकास पाती है। बौद्ध तांत्रिक साधना वज्रयान, शैव-शाक्त मत, योग आदि का जो विचित्र समन्वय नाथों में दिखता है उसके सही कारण की पहचान करते हुए प्रेमशंकर कहते हैं कि "इस समन्वय के मूल में नाथपंथियों की उदार सांस्कृतिक चेतना कार्य कर रही थी।" यह निष्कर्ष निर्विवाद है। सिद्धों-नाथों के प्रदेय को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसको अस्वीकार करना हिन्दी की जनवादी कविता की परम्परा को अस्वीकार करना है, जिसमें मानव के कल्याण के महत् स्वर विद्यमान हैं, जो संतकाव्य से जुड़ते है।

इसीलिए संतकाव्य की सही समझ के लिए पूर्ववर्ती साधना पद्धतियो की पहचान आवश्यक है क्योंकि वहीं उसका उत्स मौजूद है।" इसीलिए यह सही है कि "संतो का मुख्य प्रयोजन या तो अपनी साधना का प्रचार है अथवा सामाजिक सुधार जैसा, काव्यकौशल में उनकी रुचि कम है।" यहाँ वास्तविकता यह है कि संतों की साधना सामाजिक सुधार से भिन्न नहीं है, बल्कि वह मानव-सभ्यता के कल्याण की उदात्त दृष्टि से सम्पन्न और नियोजित है। ज्ञानमार्गी भी प्रेम के बाण से बिंधे हैं और प्रेममार्गी तो इस मार्ग के पोषक ही हैं। यह प्रेम सार्वभौमिक और सार्वकालिक चिरतन तत्त्व और सत्य है, जिसकी ज्योति की आकांक्षा संतकाव्य में आद्यंत व्याप्त है, जो मानवीय मूल्यों का आधार और बीज-भाव है जिससे सारी चेतना आप्लावित है और जो लोकमंगल के सामाजिक-मानवीय सरोकार के केन्द्र में है।

भक्तिकाव्य के संदर्भ में एक बहुविवादास्पद मुद्दा कबीर बनाम तुलसी या निर्गुण बनाम सगुण का रहा है। डॉ० प्रेमशंकर की स्पष्ट मान्यता है कि "साकार-निराकार का संघर्ष रचना के क्षेत्र में वैसा सीमांती नहीं जैसा कि कई बार विचारणा के स्तर पर प्रचारित किया जाता है। बल्कि प्रायः उनकी समन्वित स्थिति दिखाई देती है।" यही बात रामविलासजी स्वीकार करते हुए भक्ति-कालीन भक्ति को उभयधर्म की संज्ञा प्रदान करते हैं। डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने सगुण और निर्गुण दोनों को आगम से निसृत माना है। स्वयं कबीर और तुलसी ने निराकार में साकार और साकार में निराकार की सत्ता को स्वीकार किया है। वस्तुतः अंतर तो निर्गुण-सगुण में है, पर उन्हें जिस रूप मे तथाकथित कबीरवादी और तुलसी-विरोधी आलोचकों ने दो परम्पराओं के रूप मे परोसा है वह सही मुद्दों से भटकाने की कोशिश रही है। इस प्रसंग में प्रेमशंकरजी का यह निष्कर्ष बहुत मार्के का है कि "हिन्दी भक्तिकाव्य में लोकपक्ष और शास्त्रीयता, परंपरित देवत्व और विद्रोह के सम्मिलित स्वर दिखाई देते हैं पर उसका व्यक्तित्व स्वतंत्र और दायित्वपूर्ण है।" वहाँ कबीर-तुलसी या निर्गुण-सगुण अपने तमाम अंतर्विरोधों के साथ एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं बल्कि पूरक हैं। जिन मुद्दो पर वे टकराते हैं वे ही विकास के बिन्दु और भक्ति की परम्परा को आगे बढाने के मुद्दे हैं। यह निष्कर्ष स्वयं में दूसरी परम्परा की हवाई अवधारणा को उखाड फेंकता है। इसी तरह निर्गुण काव्य को मात्र ज्ञानमार्ग का काव्य कहना भी उस काव्य का अवमूल्यन करना है क्योंकि "यदि निर्गुणमार्गी कवि दार्शनिकों की तरह केवल ब्रह्म की व्याख्या करके रह जाते तो वे तर्कशास्त्री होते, पर उन्होंने विवेक, ज्ञान को अनुभूति के धरातल पर पाया था, अन्यथा काव्य सम्पत्ति वह न बन पाता।" उदाहरण के लिए, कबीर की आध्यात्मिक चेतना उच्चतर मानवमूल्यो से जुड़ी है और वह कर्मकाण्ड, शास्त्र अथवा अकादमिक पंडिताई का निषेध करती है। जिस 'ब्रह्म' को वह प्राप्त करना चाहते हैं, वह अलख निरंजन है और केवल

ज्ञान से पाया जा सकता है—गंगास्नान करके नहीं। मूल बात यह है कि "भोग आडम्बर, जातिवाद, संशय में फंसे हुए मध्यकाल का संकेत वह स्थान-स्थान प करते हैं और अपना विक्षोभ व्यक्त करते हैं। पर वह एक नये आध्यात्मिक समा. की कल्पना कर सकने की रचनात्मक दृष्टि भी रखते हैं और उनका मानवमूल्यो पर आश्रित अध्यात्म-पंथ इसी दिशा में एक प्रयत्न है। कबीर के क्रम मे डॉ० प्रेमशंकर का यह निष्कर्ष भी दृष्टव्य है कि "कबीर का रचना संसार गहरे आत्म-विश्वास से निर्मित है और इसके मूल में उनकी उदार मानवीय चेतना सक्रिय है।"

ज्ञानमार्गी निर्गुण रचनाकारों की तरह ही भारत में "सूफी साधना ने क्रमश: अपना एक समृद्ध चिन्तन पक्ष निर्मित किया, यद्यपि उसे इस सीमा तक अकादमिक अथवा शास्त्रीय नहीं हो जाने दिया गया कि उसकी रचनात्मक सम्भावनाएँ ही समाप्त हो जाएँ।" उदाहरण के लिए, "जायसी के व्यक्तित्व में केवल सूफ़ी काव्य ही अपनी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त करता बल्कि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियाँ अपना पार्थक्य खोकर 'पद्मावत' जैसी विशिष्ट रचना में विलयित होती हैं।" धर्म, दर्शन और उपासना की जमीन से हटकर इन मानवीय सामाजिक सरोकारों और चिन्ताओं तक पहुँचने में ही इस सारे काव्य की सार्थकता और अर्थवत्ता समाई हुई है। निस्संदेह जायसी का प्रयोजन एक ऐसी प्रेमकथा कहना है जो उनके आध्यात्मिक आशय को भी व्यंजित करे, परन्तु ये दोनों पक्ष—अध्यात्म और समाज—पूरे भक्तिकाव्य में संश्लिष्ट रूप में रचे-बसे हैं, एक सिक्के के ही दो पहलू हैं। दोनों का बीज-भाव प्रेम है, चाहे वे कबीर हों या जायसी या कोई और रचनाकार हो। इतना अवश्य है कि "जायसी सूफियों के उस चिन्तन के व्याख्याकार हैं जो 'स्पष्ट रूप से' मानते हैं कि ईश्वर को प्रेम से पाया जा सकता है" और यह ईश्वर घट-घट वासी है। ईश्वर से प्रेम यहाँ मानव-मात्र और प्राणिमात्र से प्रेम में तब्दील होता नजर आता है। यही कारण है कि "जायसी की प्रेमकल्पना, आध्यात्मिक संकेत, रहस्यवादी दृष्टि सब सूफी दर्शन का आधार लेते हुए भी लोकोन्मुखी हैं।" वस्तुत: लोकोन्मुख होना ही इनकी ऐतिहासिक नियति थी, अन्यथा यह साहित्य जनाधार से कट जाता और गाँव-गाँव के युवकों-वृद्धों को आकृष्ट न करता। इस कविता की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि "उसकी सामाजिक चेतना जागृत एवं उदार है तथा वह अपने सांस्कृतिक दायित्व का निर्वाह करना जानती है। यहाँ सांस्कृतिक सौमनस्य इस निराकारवादी रचनाशीलता की सबसे बड़ी देन है।"

जिस तरह निर्गुण भक्ति आगम से निसृत है उसी तरह सगुण भक्ति का भी वही स्रोत है। सगुण भक्ति के संदर्भ में कालान्तर में ईश्वर की अवतारी कल्पना को पौराणिक कथाओं ने व्यापकत्व दिया और उन्हें केन्द्र में रखकर अनेक प्रकार

के लीलागान की परम्परा को गति मिली इस परम्परा मे आने वाले वैष्णव धम के विकास में राम-कृष्ण की अवतारी कल्पना ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया और निर्गुण भक्ति की धारा की सामाजिक-सांस्कृतिक तथा काव्य-चेतना को नवीन सौंदर्ययुक्त आयाम प्रदान किए। इन आयामों का औदात्य और इनकी श्रेष्ठता का यह प्रमाण है कि एक ओर तुलसी जैसे रामभक्त-कवि की सर्जनशीलता ने रामकाव्य को नये आयाम और विस्तार दिये, दूसरी ओर उन्होने उसकी सम्भावनाओं को इस सीमा तक निःशेष कर दिया कि परवर्ती कवियों को उसमें नई सम्भावनाएँ जगा पाने में कठिनाई हुई।" दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि तुलसी आदि महत्त्वपूर्ण सगुण भक्त रचनाकारों की कविता चरमोत्कर्ष की कविता है, भक्ति के विकास की इतिश्री है। यही स्थिति कृष्ण-काव्य की है—विद्यापति से शुरू होने वाला हिन्दी का कृष्णभक्ति-काव्य जिस संवेदनशील सौंदर्य-बोध से सम्बद्ध है उसका समापन सूर की कविता मे हो जाता है। यही कारण है कि सूर के बाद कृष्ण-काव्य में से भक्ति और भक्ति से जुड़ा लोकमंगल का पक्ष छूट जाता है और श्रृंगार का सागर तरंगित हो उठता है।

राम-कृष्ण सगुण भक्तिकाव्य के विशेप संदर्भ में भक्तिकविता का सामाजिक सास्कृतिक चेतना के अनुशीलन के क्रम में डॉ० प्रेमशंकर का यह निष्कर्ष बुनियादी महत्त्व का है कि "मध्यकाल में रचना अनेक दिशाओं में सक्रिय हुई और एक ओर शासकों तथा सामंती अभिजात वर्ग द्वारा निर्मित स्थापत्य शिल्प है, तो दूसरी ओर रचना के क्षेत्र की वे उपलब्धियां हैं, जिनमें सामान्यजन के संवेदन उपस्थित हैं।" समग्रता में देखा जाय तो "मध्यकालीन काव्य में समाज-संस्कृति के जो दृश्य बिंबित हुए हैं, उन्हें इस सामंती परिवेश से अलगाकर नहीं देखा-परखा जा सकता।" यह तय है कि भक्ति कविता निश्चित रूप से अपने परिवेश का उत्पाद्य है और परिवेश की मानसिकता से जुड़ी है, चाहे यह जुड़ाव उसके चित्रीकरण में हो या उसकी जकड़न से मुक्ति की आकांक्षा की अभिव्यक्ति के रूप में हो। यह भी तय है कि उस कविता के जो प्रगतिशील-जनवादी स्वर हैं वे सामंतवाद के गर्भ से निकल रही पूंजीवादी चेतना के परिचायक हैं, मानव, मानव-स्वातंत्र्य, मानवीय मूल्यों, व्यवस्था के विरोध आदि की बातें इसी चेतना का परिणाम हैं। इस तथ्य को आत्मसात् न कर पाने का परिणाम यह होता है कि जब भक्तिकाव्य को सामत-वाद के दायरे में बाँध दिया जाता है तो यह कविता युगीन मानसिकता का अतिक्रमण करती दिखाई देती है। रामविलासजी का यह कहना उचित है कि "सामाजिक परिस्थितियाँ चिन्तन की सीमाएँ निश्चित करती हैं, लेकिन चिन्तन स्वयं प्रत्येक अवस्था में सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं होता।" इसी सदर्भ में डॉ० प्रेमशंकर का कथन है—"मध्यकालीन भक्तिकाव्य अपनी भक्ति-चेतना के बावजूद सामाजिक संलग्नता से उपजा है।"

सूर के प्रसंग में देखें तो निश्चय ही "सूर ने किसानी-चरागाही संस्कृति को अपना विषय बनाया है और उसी के माध्यम से अपनी भक्तिचेतना को व्यजित किया है।" इस प्रक्रिया में वे अपने चरितनायक को मध्यकालीन परिवेश से काटकर नितान्त नवीन या प्राचीन रूप में भी प्रस्तुत नहीं कर सके हैं, बल्कि उन्हें पूरा समकालीन माहौल रचना पड़ा है। यही स्थिति तुलसी की भी है। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि भक्तिकालीन रचनाशीलता की वास्तविक तलाश एक यथार्थ, मानवीय और जिजीविषायुक्त नायक की तलाश है। नायक की यह तलाश सर्जनशीलता की शक्ति पर निर्भर रही। प्रेमशंकरजी का यह कथन यहाँ उचित ही है कि "तुलसी के राम मध्यकालीन समाज में एक लोकधर्मी कथानायक के रूप में अवतरित होते हैं जैसे कवि एक समानांतर नेतृत्व अथवा आध्यात्मिक सम्राट की तलाश कर रहा है, परन्तु इस तलाश में तुलसी की भक्तिचेतना सर्वत्र सक्रिय है," लेकिन उसके साथ कहीं भी उनकी सांस्कृतिक-सामाजिक चेतना अनुपस्थित नहीं है। इसीलिए आध्यात्मिकता और आदर्शवाद के साथ जनतांत्रिकता और समाज का यथार्थ तुलसी-सूर और लगभग सारे सगुणकाव्य में समाविष्ट है। सगुणकाव्य की यह सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना लोकभाषा, लोक-चेतना और लोक-दृश्यों से प्रामाणिकता को प्राप्त होती है।

निर्गुण काव्य और सगुण काव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के प्रसंग में देखा जाए तो स्पष्ट है कि युगीन संदर्भ इन कवियों की अपनी विशेषता है, मसलन "जिस समय संत-कवियों ने वर्णाश्रम व्यवस्था, जातिवाद, धार्मिक कट्टरता, पाखंड आदि पर आक्रमण किया, उस समय के सल्तनतकाल की स्थिति निश्चित ही अधिक विश्रृंखल थी, पर मुगल-काल ने एक व्यवस्थित समाज बनाने की चेष्टा की, यद्यपि उसका ढाँचा सामंती ही है।···निश्चित ही मुगलकाल में वह परिवेश निर्मित हुआ कि रचना अधिक खुली भूमि पर सक्रिय हो सके। अनेक दिशाओं में रचनाशीलता की अभिव्यक्ति इसे प्रमाणित करती है क्योंकि लगभग सभी क्षेत्रों में सर्जक ने नई ऊँचाइयाँ पार कीं।" निर्गुण और सगुण कविता के दृष्टि सम्बन्धी तमाम अन्तर उपर्युक्त सामाजिक स्थितियों की भी देन हैं, उनसे सम्बन्धित हैं और यही स्थिति निर्गुण-सगुण में समानताओं की भी है, मसलन चाहे वह हिन्दू और इस्लामी संस्कृति का मिलन हो या दर्शन की समानता, चाहे सामाजिक दृष्टिकोण का साम्य हो या भाव-जगत की एकता—इतिहास और सामाजिक दबावों में यह भक्तिकालीन परिवेश की एक अनिवार्यता थी।

निर्गुण-सगुण कविता के एक और आयाम को सांस्कृतिक सामाजिक चेतना के संदर्भ में देखें कि सिद्धों-नाथों से लगाकर कबीर, जायसी, सूर, तुलसी—सभी मध्यकालीन सामंती भोगवाद का विरोध करते हैं। निर्गुण जहाँ ज्ञान की चर्चा से भोग का विरोध करते हैं, वहीं सगुण आदर्शात्मक आध्यात्मिकता से भोगवाद के

विरोध मे जाते है समग्रता मे दोनो ही मध्यकाल के लिए कुछ वैकल्पिक जीवन मूल्य तलाशते है और ये 'जीवन-मूल्य वैयक्तिक न होकर, सामाजिक हैं' जिन्हे भक्त रचनाकार टूटते-बिखरते और चतुर्दिक शोषण से ग्रस्त समाज में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। प्रेमशंकरजी का यह विश्लेषण मायने रखता है कि यद्यपि इस प्रक्रिया में अध्यात्म का ताना-बाना है, उसका रंग गाढ़ा है और अलौकिकता तथा शास्त्रीयता के तत्त्वों की भी रंगत और पहुँच है पर इस सबके केन्द्र में निश्चित ही मानवीय चेतना, उच्चतर मानवमूल्यों की खोज और मानवता के संरक्षण का प्रयास है। भक्ति-कविता का यही सामाजिक-सांस्कृतिक प्रदेय वह तत्त्व है जो उसे कविता के सही स्तर पर पहुँचा देता है, उसकी सार्थकता के सही प्रतिमान तय करता है और उसे कालजयी तथा सौन्दर्य से युक्त बना देता है।

निष्कर्ष रूप में, समग्रता में भक्तिकाव्य को देखने पर यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर निर्गुणभक्ति की कविता है जो "भक्ति के वृत्त को पूरा करती हुई संघर्ष और समर्पण की मिली-जुली तस्वीर बनाती" है और इसी तरह दूसरी ओर सगुण भक्तिकाव्य है जो सामंतवाद की चरम सीमा और धर्म के प्रगाढ़ के बीच तमाम साहसपूर्ण कदम उठाता है, व्यवस्था से टकराता है, विकल्प प्रस्तुत करता है, व्यवस्था में परिवर्तन की मांग करता है और इस सीमा तक जाता है कि देवताओ तक का मानवीकरण कर देता है, उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम और लीला-पुरुष बनाता है। आशय यह कि कहीं न कहीं किसी-न-किसी स्तर पर यह पूरा साहित्य अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, सामाजिक आकांक्षाओं को प्रस्तुत करता है और इस क्रम में शोषित-निर्धन जनता का सम्बल और पक्षधर बनकर सामने आता है। रचना की यह पक्षधरता रचनाकारों की सक्रिय वर्गचेतना की पहचान कराती है, जिसमें परोक्षत: उनका वर्ग-चरित्र व्यक्त होता है और सामंतवादी संरचना की कसावट-बनावट के साफ चित्र हैं। कहा जा सकता है कि सामाजिक उत्तरदायित्वों, सामाजिक सरोकारों, सामाजिक चेतना आदि की दृष्टि से 'भक्तिकाव्य हिन्दी साहित्य का सार्थक सृजन है।···भक्तिकाव्य पर जो सामाजिक दबाव हैं उन्हें वह नकार नहीं सकता' बल्कि वह स्पष्टत: उन्हे प्रस्तुत कर देता है। अपनी शक्ति और सीमा को निस्संकोच सहज रूप से वह सामने लाता है तथा 'एक नया भावजगत् निर्मित करते हुए, पुष्ट वैचारिक आधार' देते हुए जीवन और जगत् से कविता को सम्बद्ध करता हुआ साहित्यिक ऊंचाइयों को प्राप्त होता है। प्रेमशंकरजी के ही शब्दों में, "भक्तिकाव्य मध्यकालीन जागरण की सक्रियता को अभिव्यक्ति देने वाला उन्मेष है···। यदि उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना संगठित हो सकती और उसके समवेत स्वर की यात्रा लम्बी हो पाती तो जो मानवीय परिवेश उसने जन्माया था, वह और भी गतिशील रहता। पर अपने समय की सीमाओं में भी, उसका व्यक्तित्व मध्यकालीन

सांस्कृतिक मेल-जोल को अपने ढंग से प्रक्षेपित करता है और सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के बनाने में उसकी महत्त्वपूर्ण हिस्सेदारी है।" इस सबके साथ इस काव्य की एक प्रासंगिकता और भी है कि "मध्यकालीन इतिहास, समाजवृत्त को समझने में भी वह हमारी सहायता करता है और उसके जो अंश यथार्थ की खुरदरी जमीन से टकराते हैं तथा वे मूल्य जो कवियों ने विकल्प रूप में खोजे हैं, हमें उस काव्य के सर्वोत्तम हस्ताक्षरों की प्रासंगिकता तलाशने के लिए उकसाते हैं।" निर्विवाद है कि प्रेमशंकरजी की भक्ति-काल और भक्तिकाव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना की यह पड़ताल महत्त्वपूर्ण विचार-बिन्दुओं तक पहुंचाती है और इस काल तथा कविता के सही चरित्र के साथ उसके मूल सरोकारों को प्रस्तुत करती है, उसकी जटिलताओं को खोलती है और भक्तिकाव्य सम्बन्धी तमाम चिन्तन को पुष्ट तथा सुदृढ़ वैचारिक आधार देती हुई अपनी अर्थवत्ता का प्रतिपादन करती है।

भक्तिकाव्य की लोकवादी भूमि

लक्ष्मीचन्द

भक्तिकाव्य के विषय में पहला सही प्रस्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में प्राप्त होता है जिन्होंने तुलसी के माध्यम से लोकमंगल की साधनावस्था को स्थापित किया; सूर की भगवद्भक्ति को प्रतिष्ठा दी, जायसी काव्य को अर्थविस्तार देकर गहरे लोकवादी कवि के रूप में महत्त्व दिया; कबीर की सीमाओं का उल्लेख करते हुए सामाजिक चेतना को उजागर किया और शिल्प-संस्कार पर ज़ोर दिया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सन्त साहित्य को स्थापित किया क्योंकि वे शान्ति-निकेतन में अनेक विद्वानों के सम्पर्क में आये थे और नई सामाजिक दृष्टि विकसित की थी। भक्तिकाव्य की लोकोन्मुखता को इन समीक्षकों के द्वारा विस्तार प्राप्त हुआ। भक्तिकाव्य को एक सामन्ती समाज की पीठिका पर देखने के कारण पूर्वग्रह भी बनाये जा सकते हैं। जब आलोचना में समाजशास्त्रीय विवेचन की परम्परा चली तब मार्क्सवादी चिन्तन का सहारा लिया गया। वरान्निकोव जैसे रूसी विद्वान ने स्वीकार किया है और डॉ० रामविलास शर्मा जैसे प्रतिबद्ध समीक्षक की दृष्टि भी इस विचारधारा के माध्यम से सर्वोत्तम तलाशती प्रतीत होती है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह कि आज के संदर्भ में भक्तिकाव्य की लोकवादी दृष्टि को कैसे विश्लेषित किया जाए। डॉ० प्रेमशंकर ने एक प्रकार से भक्तिकाव्य से नये साक्षात्कार का प्रयत्न किया है। उनके छ: ग्रन्थ हैं : भक्तिचिन्तन की भूमिका, भक्तिकाव्य की भूमिका, कृष्णकाव्य और सूर, रामकाव्य और तुलसी, भक्तिकाव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना तथा भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र। इसमें यदि कबीर और जायसी का विवेचन भी स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में उपलब्ध हो सकता तो भक्तिकाव्य का वृत्त पूरा हो जाता। सम्भवत: यह योजना उनके मन में है, और वे इस दिशा में कार्यरत हैं क्योंकि 'भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र' में कबीर, जायसी, मीरा पर निबन्ध हैं। डॉ० प्रेमशंकर की मान्यता है कि महत्त्वपूर्ण रचना की पीठिका में दर्शन—विचार-धाराएं काम करती हैं जो उनके भाव संसार को पुष्ट करती हैं। उन्होंने बल देकर कहा है कि सार्थक रचना स्वीकृति और निषेध के द्वन्द्व से जन्म लेती है। यथार्थ

द्वन्द्वात्मकता के माध्यम से रचना में आता है, पर महत्त्वपूर्ण रचनाकार अपनी सहमति या असंतोष भी व्यक्त करता है। डॉ० प्रेमशंकर का विचार है कि रचना एक प्रतिपक्ष भी है और उसका एक दिवास्वप्न, कल्पित संसार अथवा विजन होता है, इन ग्रन्थों में इसी समाजशास्त्रीय दृष्टि को अग्रसर करने का प्रयास है। प्रमुख रचनाकारों से गुजरने का एक कारण यह भी कि वे समाज व्यवस्था की उन चिन्ता रेखाओ को स्पष्ट करना चाहते हैं जो मध्यकाल की समृद्धि के अलावा घोर सकट के छोर पर खड़ी थीं और रचनाकार भविष्य का विकल्प तैयार करने में लगे थे। डॉ० प्रेमशंकर समय-समाज की पड़ताल, रचना में उसका आगमन और कवि द्वारा एक विकल्प की खोज को इस दृष्टि से भी परखना चाहते हैं कि सार्थक रचना किस तरह का जोखिम उठाया करती है। डॉ० प्रेमशंकर रचना-प्रक्रिया अथवा रचना-संकट को अकादमिक मसला नहीं मानते : "सार्थक रचना अपने समय की प्रामाणिक तस्वीर होती है और साहसी रचनाकार कई बार सांस्कृतिक आन्दोलनो की अगुआई भी करते हैं" (सृजन और समीक्षा, पृ० 17)।

'भक्तिचिन्तन की भूमिका' वैदिक युग से लेकर भागवत तक के भक्तिचिन्तन पर विचार करती हुई पुस्तक है। यहां दो क्रम हैं : विष्णु का विकास और भक्ति की आरम्भिक यात्रा। वे उन कारकों के बहुत विस्तार में नहीं जाते जिनसे भक्ति सम्बन्धी प्राचीन अवधारणाओं में परिवर्तन होता है। पर वे उन प्रमुख मोड़ो का सकेत करते है जिसमें भक्ति एक वृत्त से दूसरे में प्रवेश करती है। वे मानते हैं कि समय के दबाव रचना के इतिहास को रूपान्तरित करते हैं। इतिहास के लम्बे दौर मे भक्ति का स्वरूप बदलता रहा है और सांस्कृतिक उत्थान-पतन के द्वन्द्व मे सर्वोत्तम भी नेपथ्य में चले गए हैं। जैसे इन्द्र का सांस्कृतिक मंच से नेपथ्य में जाना और उनके स्थान पर विष्णु का विकास। विष्णु की यात्रा राम और कृष्ण के व्यक्तित्व में विकास पाती है जिसमें नयी चेतना का विकास हुआ। देवताओ के मानवीकरण की प्रक्रिया को डॉ० प्रेमशंकर रचना की सक्रियता की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ मानते हैं। इससे देवताओं का पूरा लीला संसार निर्मित हुआ और कवियों को रचना की नई प्रेरणाएं मिलीं। भक्ति-आख्यान की विश्वसनीयता मे वृद्धि हुई, चरित्र विकसित हुए। डॉ० प्रेमशंकर अवतारवाद का विवेचन करते हुए इतिहास-पुराण के दबावों को स्पष्ट करते हैं जिसमें एक ओर भक्ति-चेतना मे अवतारों को जातियों की गहरी संलग्नता से जोड़ा जाता है तो दूसरी ओर देवत्व को अलौकिक तत्त्व से। इसे वे सामाजिक चेतना से जोड़ते हैं, जहां शास्त्रो का सही-गलत उपयोग किया गया। चिन्तन का अपना एक क्रम होता है और उसमे इतिहास-समाज-संस्कृति के तत्त्व सम्मिलित होते हैं। जो चिन्तन सामाजिकता से हटता है उसका अन्त अवश्यम्भावी है अथवा उसकी पुनर्रचना आरम्भ हो जाती है। भक्तिचिन्तन का विकास वैदिक वाङ्मय से होता हुआ काव्य ग्रन्थों में अलग-

अलग तरह से प्रक्षपित हुआ जैसे गीता मे साकार निराकार के प्रश्न।

पुस्तक का समापन भागवत से करते हुए डॉ० प्रेमशंकर ने उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। वे मानते हैं कि इससे सामान्यजन को भक्ति के मार्ग में अग्रसर होने में सहायता मिली। यहां उनके विवेचन में मूल्यबोध जाग्रत है। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि जिस समय भागवत की रचना हुई होगी उस समय समाज अपने चरमोत्कर्ष में न होकर अवनति की ओर जा रहा होगा और मानव-मूल्यों की बिगलित स्थिति का बोध भागवतकार भक्तिहीनों के माध्यम से कराना चाहते हैं (पृ०101-102)। उनका मत है कि आरम्भ में भक्ति का स्वरूप शास्त्रीय था और इससे पाण्डित्य तथा पुरोहितवाद को प्रश्रय मिला। पर धीरे-धीरे उसका एक अधिक सामाजिक रूप विकसित हुआ जहां शास्त्र और कर्मकाण्ड को प्राथमिकता नहीं दी गई। भागवत की नवधा भक्ति का विवेचन करते हुए डॉ० प्रेमशंकर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उसकी उदार चिन्तन क्षमता से भक्तिकाव्य को नया विस्तार मिला और कठोर वर्णव्यवस्था के बावजूद उसमें सामान्यजन सम्मिलित हो सके।

इसी क्रम में उनकी दूसरी पुस्तक 'भक्तिकाव्य की भूमिका' है जो कई दृष्टियो से उनकी महत्त्वपूर्ण रचना है। यहां शोध और आलोचना का ऐसा समन्वित रूप है कि जो कइयों को प्रेरणा दे सकता है। आरम्भ में वे कहते है : भारतीय इतिहास को लेकर इतिहासकार एकमत नहीं हैं। एक वह कट्टरपंथी वर्ग जो भारत पर इस्लामी प्रभाव को स्वीकार नहीं करना चाहता। दूसरा वह जो यह सोचता है कि भारत में इस्लाम न आया होता तो भक्ति का विकास न होता। इसका प्रत्याख्यान आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी किया है तथा भक्तिकाव्य को भारतीय सामाजिक परिस्थितियों की उपज बताया है। एक तीसरी दृष्टि समाजशास्त्रीय अथवा मार्क्सवादी है जिसने भक्तिकाव्य को भारतीय सामन्ती समाज के सन्दर्भ मे देखा। डॉ० प्रेमशंकर इसी परम्परा के लेखक हैं, किंचित परिवर्तन के साथ। पुस्तक दो भागों में है : पहला भाग मध्यकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश का है जिसमें वे कलाओं के अन्तरावलम्बन पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करते हैं। डॉ० प्रेमशंकर अधीत शोधार्थी हैं और उन्होंने इसके लिखने में श्रम किया है। प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थों से उन्होंने उस समय का एक सम्पूर्ण चित्र उभारा है और यहा उनकी दृष्टि मुख्य रूप से भारतीय सामन्ती व्यवस्था के मूलाधार कृषक समाज पर है। दूसरा पक्ष सांस्कृतिक सौमनस्य का है जिसकी सबसे महत्त्व-पूर्ण अभिव्यक्ति साधु-संत, सूफ़ियों आदि में दिखायी देती है।

सार्थक रचना अपने समय-समाज का निषेध नही करती, उसकी अपनी संस्कृति होती है और राजनैतिक दबाव भी उसका एक अहम पक्ष है। डॉ०

प्रमशंकर के इतिहास विवचन का आधार भी यही है मध्यकालीन साम ती समाज की पृष्ठभूमि में भक्तिकाव्य जन्मा पर इसके आरम्भिक संकेत अरब सम्पर्क से ही मिलने लगते हैं जिसे गौण माना जाता है। इस्लामी व्यवस्था के भीतर अपना प्रभाव दिखाने वाले काव्य को यूं ही नहीं विश्लेषित किया जा सकता। डॉ० प्रेमशंकर की मान्यता है कि "एक बिल्कुल विजातीय तत्त्व ने भारतीय समाज को आन्दोलित न किया हो, यह सम्भव नहीं : इस्लामी सम्पर्क से भारतीय समाज कई स्तरों पर प्रभावित हुआ यहां तक कि जाति व्यवस्था की प्राचीन परम्परा भी परिवर्तन के दौर से गुजरी और नई जातियां भी विकसित हुई, जिसे विजयदेव नारायण साही ने 'तरह-तरह की दृष्टियों का टकराना' कहा है। डॉ० प्रेमशकर विवेचित करते हैं कि पूर्व मध्यकाल इस्लाम की उद्देश्य पूर्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। एकदेववादी और बहुदेववादी दर्शन के संघर्ष यहां मौजूद हैं जो अकबर काल में अपने समन्वित लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। खुसरो का देसी व्यक्तित्व, जिन्होंने अपनी इस्लामी कट्टरता छोड़ी, राज्याश्रय के अभाव में, अपने सास्कृतिक दायित्व के प्रति जागरूक हैं। सल्तनत काल के संदर्भ में डॉ० प्रेमशकर की टिप्पणी है : इस काल में शिक्षा-संस्कृति के क्षेत्र में एक ऐसा परिवेश बनाने की कोशिश की गई जिससे सहज सम्पर्क को विकास मिले, नई सामाजिक संस्कृति का जन्म हो।

मुगलकाल में अकबरी शासन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यहां जातियो के सघर्ष कम होते हैं, सम्पर्क बढ़ते है और राजधर्म के रूप में दीन-ए-इलाही को स्वीकार किया जाता है। 'सर्वधर्म समभाव' का प्रयत्न इस्लामी सत्ता में दिखाई पडता है। आइने अकबरी की टिप्पणी को छोड़ दिया जाए तब भी दरबार के भीतर-बाहर रचे जाने वाले रचनाधर्म में एक आत्मीय स्वीकृति थी। मुगलकाल मे इस्लाम का भारतीयकरण हुआ जिसे डॉ० प्रेमशंकर 'जागरण काल' की सज्ञा देते हैं। वे विस्तार से चर्चा करते हुए अपने विवेचन की सांस्कृतिक पीठिका की नीव मजबूत करते हैं। एक ओर देसी भाषाओं की सक्रियता है तो दूसरी ओर मुगल आश्रय में पनपने वाली कला : 'मुगलकालीन कलाएं व्यापक उन्मेष का ही एक भाग हैं।' वास्तविकता यह है कि रचना-कला का अन्तरावलम्बन महत्त्वपूर्ण अध्ययन का विषय है, क्योंकि रचनाशीलता अनेक दिशाओं में स्वयं को प्रक्षेपित करती हुई किसी विशेष कालखण्ड में समान प्रवृत्तियों से गुजरती है। उस परिवेश की रचनाशीलता विभिन्न दिशाओं में जाकर अपने को सक्रिय करती है पर गौर से देखने पर पता चलता है कि इनका प्रस्थानबिन्दु एक-सा ही है (पृ० 72)। इतिहास का विवेचन करते हुए डॉ० प्रेमशकर की मूल दृष्टि जातियों के संवाद, शासन के दबाव और सामान्यजन की स्थिति पर केन्द्रित रही है जिससे सार्थक रचनाशीलता जन्म लेती है।

पुस्तक के दूसरे खण्ड में मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन का विवेचन है, आलवार सन्तों से लेकर गुरुनानक तक। पुस्तक में तमिल आलवार सन्तों की भूमिका को इस दृष्टि से स्वीकार किया गया है कि वे भक्तिकाव्य को शास्त्र की सीमाओं से बाहर लाकर इसे सामान्यजन की भक्तिसंवेदना से जोड़ते हैं। इसीलिए दिव्य-प्रबन्धम् का संकलन और गायन दक्षिण की विवशता बन जाती है। भक्ति परिदृश्य से गुजरते हुए वे उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण की अनाक्रांत स्थिति पर भी प्रकाश डालते हैं जिसमें द्रविड़ धर्म पल्लवित हुआ। शैवमत की प्रबलता के बावजूद वैष्णवमत का प्रचार-प्रसार इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। दक्षिण की वैष्णव परम्परा को विवेचित करते हुए डॉ० प्रेमशंकर चार प्रमुख आचार्यों—रामानुज, मध्व, निम्बार्क, विष्णुस्वामी के दार्शनिक मतों का तात्विक विश्लेषण करते हैं। भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि में शंकराचार्य भी हैं जिन्हें उन्होंने असमंजस और अनिर्णय के क्षणों में नया रचनात्मक मोड़ देने वाला व्यक्तित्व कहा है। शंकराचार्य ने भारतीय वेदांत की ऐसी जीवन्त व्याख्या की कि वह सर्वथा नये सन्दर्भों में उजागर हो गया''हम ऐसी तार्किक बुद्धि के सम्पर्क में आते हैं जिनका गन्तव्य आध्यात्मिक तथा मानवीय है (पृ० 103), यद्यपि शंकराचार्य की भूमिका को लेकर विद्वानों में मतभेद है।

वैष्णवाचार्यों की चर्चा करते हुए डॉ० प्रेमशंकर प्रपत्ति अथवा शरणागति को विशेष महत्त्व देते हैं क्योंकि इसी से भक्ति में सामान्यजन का प्रवेश सुगम हुआ। "यदि आचार्यगण केवल पाण्डित्य के सहारे चलते रहते तो साधारण जनता का इसमें सम्मिलित होना सम्भव न था"(पृ० 121)। रामानन्द को वे अपने समय का एक विशिष्ट समाज सुधारक इस दृष्टि से मानते हैं क्योंकि उन्होंने भक्ति के द्वार सामान्यजन के लिए उन्मुक्त किये। एक ओर कबीर जैसे शिष्य हैं तो दूसरी ओर तुलसी जैसी प्रतिभाएँ। रामानन्द की तरह वल्लभाचार्य भी भक्ति की शास्त्रीय सीमाओं को लाँघते हैं, मनुष्य मात्र को अधिकारी बताकर और कृष्णभक्ति परम्परा के पथप्रदर्शक बनते हैं। उत्तर भारत के भक्ति आन्दोलन में डॉ० प्रेमशंकर चैतन्य, षटगोस्वामी, गुरुनानक आदि के प्रदेय पर भी विचार करते हैं जिनके बिना भक्तिकाव्य को समग्रता से नहीं पकड़ा जा सकता। सूफ़ी अपनी उदारता से समन्वयशील प्रवृत्ति को जन्म देते हैं। मध्ययुग के इतिहास के दबावों को स्वीकारते हुए प्रेमशंकर भक्ति आन्दोलन के जन्म और उसकी व्यापकता को इस दृष्टि से समापन देते हैं कि "इसमें धरातलीय सीमाएँ बाधक नहीं हैं, क्षेत्रीय विशेषताओं के बावजूद इनकी प्रवृत्तियों में समानताएँ हैं" (पृ० 151)। इस तरह मध्यकालीन इतिहास के भीतर से सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश को उभारा गया है। 'भक्तिकाव्य की भूमिका' इतिहास भी है और रचना की सही पृष्ठभूमि की तलाश भी। मध्यकाल के भक्ति आन्दोलन को सही सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने का अपने ढंग

का यह अभिनव प्रयत्न है।

डॉ० प्रेमशंकर ने मध्यकालीन भारतीय संस्कृति को अभिव्यक्ति देने वाले चार प्रमुख कवियों में से दो को अपने विस्तृत विवेचन का आधार बनाया है, सूर और तुलसी को। इसे थोड़ा लीक से हटकर भी कहा जायेगा क्योंकि प्रायः प्रखर सामाजिक चेतना के लिए कबीर का विद्रोही स्वर उद्धृत किया जाता है। 'रामकाव्य और तुलसी' दो खण्डों में विवेचित पुस्तक है। प्रथम खण्ड में रामकाव्य की सुदीर्घ परम्परा को इस दृष्टि से देखा गया है कि आखिर काव्य-नायक राम वे ही हैं, रामकथा भी वही है पर कवियों ने उन्हें नये-नये रूप में कैसे देखा ? और यहीं डॉ० प्रेमशंकर की सजग समाजशास्त्रीय दृष्टि सक्रिय दिखायी देती है। उनका विचार है कि सामाजिक दबावों में कवियों ने नायकों की गाथा को नये सन्दर्भों में देखा। वाल्मीकि, भवभूति, रामानन्द, विष्णुदास, ईश्वरदास, सूरदास, अग्रदास, निराला से लेकर नरेश मेहता, भारतभूषण अग्रवाल तक में बदले हुए विन्यासों को देखा जा सकता है। रामकाव्य अपनी प्रेरणा के रूप में वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक आदि की ओर देखता है पर वह अपने समय-समाज से असम्पृक्त नहीं है। 'राम' शब्द का प्रयोग निर्गुणिया सन्तों ने भी किया पर रामकाव्य के सगुण भक्तिमार्गी कवियों ने राम के चरित्र को लेकर उनके व्यक्तित्व को जनता तक पहुँचाया। राम की अभिव्यंजना यहाँ अन्याय के खिलाफ खड़े होने वाले चरित्र के रूप में भी है। वह व्यक्ति-चरित्र के रूप में न होकर सामाजिक मर्यादाओं और मानव मूल्यों के सर्वोत्तम प्रतीक रूप में है। डॉ० प्रेमशंकर ने यह भी स्वीकार किया है कि रामकाव्य में तुलसी इतनी ऊँचाइयों पर पहुँच गए कि उनके पूर्ववर्ती स्वरों को लगभग भुला दिया गया और इस क्रम में वे विष्णुदास की रामायणीकथा का उल्लेख करते हैं।

तुलसी जैसे कालजयी कवि, जिनसे साक्षात् करने में हर लेखक प्रसन्नता का अनुभव करता है। हिन्दी में सर्वाधिक पुस्तकें उन्हीं पर उपलब्ध हैं, पर अकादमिक लीक से हटकर आधुनिक हिन्दी समीक्षा में कुछ महत्वपूर्ण प्रयत्न हुए हैं। एक ओर आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदीजी की प्रेरणा है तो दूसरी ओर नये समाजशास्त्रीय और समाजवादी विवेचन का उपयोग भी किया गया है। समय के गहरे अहसास वाले अपने प्रिय कवि में डॉ० प्रेमशंकर गहरे उतरते हैं। वास्तविकता यह है कि वे कविता की एक जीवन्त परम्परा देखते हैं—कबीर, जायसी, सूर, तुलसी से लेकर निराला, मुक्तिबोध, नागार्जुन, त्रिलोचन तक। डॉ० प्रेमशंकर तुलसी को कृषक जीवन के सबसे समर्थ कवि के रूप में देखते हैं और कहते हैं कि "ग्राम समाज का ऐसा प्रामाणिक संवेदन चित्रण विरल है। उनकी रचनाओं में वनखण्डी और ग्रामजीवन के दृश्य पूरी रागात्मकता के साथ आए हैं जो प्रमाणित करते हैं कि तुलसी नगर सभ्यता में रमकर रह जाने वाले कवि नहीं थे। यदि

ऐसा होता तो उनकी रचना सामान्यजन के संवेदन से जुड़ न पाती" (पृ० 58)। जीवन का वैविध्य भी उसी के भीतर से प्रक्षेपित होता है और सामान्यजन के दृश्य उरेहने में तुलसी अप्रतिम हैं। यहाँ तुलसी का दार्शनिक रूप मुख्य संवेदन संसार मे खप जाता है और कविता उठान लेती है। डॉ० प्रेमशंकर ने तुलसी के राम को 'मानव मूल्यों का समुच्चय' कहा है। वे अन्याय-अत्याचार के विरोध में खड़े होनेवाले काव्य-नायक हैं और इसीलिए उन्हें सहज सामाजिक स्वीकृति मिलती है। तुलसी ने अपने ढंग से प्रिय मूल्य प्रक्षेपित किये हैं—वक्तव्यों के माध्यम से कम और चरित्रों की क्रियाशीलता के माध्यम से अधिक। आचार्य शुक्ल ने श्रद्धा भक्ति का विवेचन करते हुए ऐसे ही महापुरुषों को श्रद्धेय कहा है जो सामाजिक मर्यादाओं के रक्षक बनते हैं।

डॉ० प्रेमशंकर मानते हैं कि तुलसी की रचना की दो भिन्न दिशाएँ हैं : "एक मध्यकालीन यथार्थ जो कलयुग वर्णन के माध्यम से व्यक्त होता है, तथा दूसरा कवि का कल्पित रामराज्य। 'कलि बारहिं बार दुकाल परैं/बिनु अन्न दुखी सब लोग मरैं' यथार्थ दृश्य है तथा शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, बल, दम, बुद्धि, श्रेष्ठ विज्ञान आदि उच्चतर मूल्यों के साथ विप्र गुरु पूजा कवि का विज्ञन है।" तुलसी की आदर्शवादी प्रवृत्तियाँ बराबर सक्रिय पर उन्होंने जीवन-जगत को खुली आँखों से देखा। तुलसी कौन से मूल्य प्रक्षेपित करना चाहते हैं। डॉ० प्रेमशंकर तुलसी के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि "जीवन-मूल्य वायवी अथवा आकाररहित होकर अधिक उपयोगी नहीं हो सकते, सामाजिकता उनकी अनिवार्य शर्त है। मूल्यों की निर्मिति विशेष सामाजिक स्थितियों में होती है अर्थात् वे अपने युग की उपज होते हैं" (पृ० 113)। डॉ० प्रेमशंकर अपनी उस मान्यता को प्रमाणित करना चाहते हैं कि सही रचना स्वीकृति और निषेध के द्वन्द्व से उपजती है। किसी समय तुलसी को वर्णाश्रम व्यवस्था का पोषक, नारी-निंदक यहाँ तक कि प्रतिगामी कवि के रूप मे देखने की भूल की गई थी। लेखक की मान्यता है कि तुलसी की सीमाएँ अपने समय की सीमाएँ हैं और यह बात उन्होंने हिन्दी स्वच्छंदतावादी काव्य के सन्दर्भ मे अपनी पुस्तक की निष्कर्षात्मक पंक्तियों में भी कही है, "सामाजिक परिस्थितियों के कारण हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य में अन्तर्विरोध मौजूद हैं इससे इंकार नही किया जा सकता। उसमें मानव-प्रकृति की निकटता स्थापित करके स्वय को विस्तार देने की जो चेष्टा है, उससे समग्र जीवन को पकड़ने का उद्देश्य पूरा नही पड़ता पर आदर्शवादी ढंग से इस काव्य ने एक मानवीय दर्शन जन्माने का प्रयत्न अवश्य किया जिसमें कतिपय उच्चतर मानव मूल्य उभरे हैं। यहाँ स्नेह-करुणा आदि मानवीय सदाशयता की भावनाएँ व्यक्त की गई हैं और माना कि यथार्थ की खुरदुरी जमीन से टकराने का माद्दा उनमें कम है पर कवियों की सदिच्छा से इन्कार नहीं किया जा सकता। रचना का केन्द्र मनुष्य है और जिसमें कवि स्वयं

भी उपस्थित है'' (पृ० 393)। रचनात्मक आत्मविश्वास, मध्यकालीन दृश्य, भयावह यथार्थ, लोकधर्म, शैव-वैष्णव मिलन, रचना-संसार और सांस्कृतिक दृष्टि से अपने प्रिय कवि का विश्लेषण करते हुए डॉ० प्रेमशंकर तुलसी को अपने समय के सार्थक कवि के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। पर सम्भवतः डॉ० प्रेमशंकर मार्क्स के इस विचार से प्रभावित हैं जहाँ उसने कहा है कि मनुष्य सामाजिक परिस्थिति की उत्पत्ति है, पर ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो अपने लिए नया परिवेश बना लेते हैं। महान कवि अपना एक नया रचना-संसार बनाते हैं। तुलसी पर डॉ० प्रेमशंकर के विचार प्रभावी हैं और नयी दशा में सोचने के लिए उत्तेजित करते हैं।

'कृष्णकाव्य और सूर' के पहले खण्ड में कृष्णगाथा का विकास क्रम विवेचित है और दूसरे में सूरदास के काव्य पर केन्द्रित विवेचन। कृष्ण बहुरंगी कथानायक हैं, उनका लीला-चरित इसीलिए और अधिक मार्मिक बन सका। डॉ० प्रेमशकर कृष्ण भक्तिकाव्य के अन्तर्गत कृष्ण चरित्र के विकास का संकेत करते हैं: रसिक रेखाओं का तलाशा जाना, सम्प्रदायों की नाकाबन्दी आदि। एक रंगारंग व्यक्तित्व का सही साक्षात्कार करना निश्चित ही नयी दृष्टि की अपेक्षा रखता है। कृष्ण गाथा का रूप प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध है और जहाँ तक कृष्णभक्ति का प्रश्न है भागवत इसका प्रस्थानग्रन्थ है। कृष्ण गाथा के प्राचीन रूप ने आलवार सन्तो की सामाजिक चेतना को उकसाया था और लगभग सभी महत्त्वपूर्ण प्रादेशिक भाषाओं में इसका उपयोग हुआ। डॉ० प्रेमशंकर मानते हैं कि कृष्ण का चरित्र भारतीय इतिहास के दबावों में रूपान्तरित होता रहा है। पहले उसकी मौखिक परम्परा थी और महाभारत अथवा गीता के चिन्तन का उपयोग रचना में एक महत्त्वपूर्ण शुरूआत है। भागवत और अन्य लीला प्रसंग कृष्ण के व्यक्तित्व को नयी दिशाएँ देते हैं और राधातत्व माधुर्य भाव को गहरा करता है। जयदेव अथवा विद्यापति के कृष्ण रूमानी तत्त्वों का प्रवेश कराते हैं और अष्टछाप के कवि लगभग समान स्थितियों से जुड़ते हुए विशेषतया बाल भगवान को प्रतिष्ठित करते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के रस-रूप की चर्चा है और बाल अथवा किशोर रूप की स्वीकृति जो उनके गोप समाज से जुड़ा है। प्रेमशंकरजी ने स्वीकार किया है कि भागवत में राधा की अनुपस्थिति के कारण राधा की उत्पत्ति का प्रश्न जैसे आज भी अनुत्तरित है। "राधा तत्त्व की नियोजना मध्यकालीन कृष्णभक्ति का एक विशिष्ट प्रदेय है।'' कृष्ण लोकनायक की भूमि पर उपस्थित होते हैं, लगभग राम के समानान्तर। उनका शृंगारी रूप कवियों की विवशता न होकर, समाज की उस मनोवृत्ति का परिचायक भी है जब उन्हें 'ऐन्द्रियता की पार्थिव भूमि' पर उतार लिया गया। कृष्णकाव्य पूरे देश में सक्रिय होता है पर स्वयं को व्रजभूमि से सम्बद्ध करता है यहाँ तक कि तुलसी जैसे रामभक्त कवि से 'कृष्ण गीतावली'

रचवा लेता है यह सही है कि कृष्णकाव्य मन्दिरो को केन्द्र मे रखकर जमा, फलतः गेय तत्त्वों की प्रधानता हुई। लौकिक रस से आध्यात्मिक आनन्द तक पहुँचने का मार्ग इसी से खुला। दर्शन में सम्प्रदायों को स्वीकारते हुए भी कृष्ण यहाँ स्वतन्त्र भाव भूमि पर स्थित हैं। जनता की लोकप्रियता से ग्राम जीवन और कृषक चरवाहा संस्कृति का प्रवेश भी इसमें हुआ। कृष्ण-लीला चरित की मार्मिकता, लोकप्रियता से उसमें कई प्रकार के लोग सम्मिलित हुए यहाँ तक कि उसने रसखान को भी प्रभावित किया, जो बार-बार ब्रज-गोकुल में बसना चाहते है। डॉ० प्रेमशंकर कृष्णकाव्य के विभिन्न वैचारिक सम्प्रदायों का उल्लेख भक्ति की भूमिका में कर चुके हैं और उनकी मान्यता यह कि सही रचना दर्शन विचार-धारा को कविता में घुला-मिला देती है। वह ऊपर से लादी हुई नहीं होती। अष्ट-छाप के कवियों में सूरदास और परमानन्ददास इसीलिए अधिक स्वीकृत हुए, यद्यपि कवि वल्लभ सम्प्रदाय से जुड़े हुए है।

दूसरे खण्ड में सूर का विवेचन करते हुए डॉ० प्रेमशंकर एक नई दृष्टि का परिचय देते हैं। तुलसी को उन्होंने कृषक एव ग्राम जीवन के कवि के रूप में देखा है और वे सूर को कृषक-चरवाहा अथवा किसानी-चरागाही संस्कृति के महत्त्वपूर्ण कवि के रूप में देखते हैं। ऐसा लगता है कि डॉ० प्रेमशंकर के अवचेतन में आदिम समाज, कुटुम्ब-कबीली व्यवस्था, जनपदीय लोक संस्कृति आदि की अवधारणा विद्यमान है। वे कहते हैं कि सूर के द्वारा महाभारत-प्रसंग-वाला सुदर्शन चक्रधारी रूप का न लिया जाना इसी का परिणाम है। सम्भवत. उसमें कवि की मानसिकता का भी हिस्सा हो सकता है। यह गौण कि वे वल्लभ सम्प्रदाय के व्याख्याता हैं और कृष्ण कवि बाद में। उनकी पहचान का प्रमुख बिन्दु है—वैचारिक-दार्शनिक आधार को अपनी काव्य-सम्पत्ति बनाना। सूर के कृष्ण भागवत पर सम्पूर्ण आश्रित नहीं हैं और वे कृष्ण के कर्मवान व्यक्तित्व को उभारना चाहते हैं, लोकोद्धारक के रूप में। उन्होंने विशेष रूप से गोवर्धन पूजा का उल्लेख किया है जिससे कृष्ण का विद्रोही रूप सामने आता है और वे धरती के देवत्व को स्वीकारने पर बल देते हैं, कहते हैं: "गोवर्धन पर्वत से बढ़कर कोई दूसरा देव नहीं। कृष्ण को वे देवत्व की पीठिका से थोड़ा अलग कर मानवीय भूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं, वे केवल आराध्य नहीं हैं, सहज मानवीय भूमि पर संचरित होने वाले कथानायक भी हैं और यही वह बिन्दु है जहाँ मध्यकालीन परिवेश अपना प्रभाव डालता है" (पृ० 93)। वृन्दावन और गोकुल में जो कुछ कृष्ण के माध्यम से घटित होता है वह कृषि संस्कृति का मार्मिक संस्करण है और धेनु चराना आदि जनवादी रूप का विस्तार। कृष्ण बालसखाओं के साथ समरस होते हैं, ग्वालबाल उनके बन्धु हैं, सखा हैं। गोप-गोपिका प्रसंग की एक व्याख्या का प्रयत्न भी डॉ० प्रेमशंकर ने किया है और कहा है कि यह इसका एक दार्शनिक

पक्ष हो सकता है, कृष्ण परब्रह्म हैं और गोपिकाएँ समर्पिता जीव। पर कृष्ण जिस सहज भाव से गोप-गोपिकाओं के साथ लीला करते हैं उससे उनका जनवादी रूप निखरा है, उन्हें सामाजिक स्वीकृति मिलती है, राम की तरह। इसके प्रमाण रूप मे डॉ० प्रेमशंकर कहते हैं कि जब अभिभूत उद्धव गोकुल से लौटकर कृष्ण के पास जाते हैं तो कृष्ण स्वीकार करते हैं कि : ऊधौ मोंहि ब्रज बिसरत नाहीं। इस प्रकार कृष्ण में और गोप-गोपिकाओं में एक मानवीय सम्बन्ध स्थापित होता है तथा राधा भी इसमें सम्मिलित हैं। जहाँ तक सांस्कृतिक उपादानों का प्रश्न है सूर में इसका स्वरूप अन्य सन्त भक्त कवियों की तुलना में सीमित है, पर है विशिष्ट। कृष्ण के माध्यम से गोकुल-वृन्दावन के दृश्य देशीय सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्ति देते हैं। सूर कृष्णकाव्य के जानदार कवि हैं और यदि यहाँ यथार्थ-वादी तेवर कुछ और तेज हो सकते तो सम्भवतः कृषि-चरागाही संस्कृति और मध्यकालीन सामाजिक दबावों की झाँकी हमें अधिक मिलती। कृष्ण काव्य परम्परा में कई अचीन्हें नाम आये हैं जो समीक्षक के गहन अध्ययन का परिचय देते हैं। इस प्रकार पुस्तक सूर की रचनाशीलता को नये ढंग से देखने का एक ईमानदार प्रयत्न है जिसमें कृषक-चरवाहा संस्कृति को आधार बनाया गया है।

भक्तिकाव्य के समाजशास्त्रीय अनुशीलन का समापन डॉ० प्रेमशंकर ने अपनी पाँचवीं पुस्तक 'भक्तिकाव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना' में किया है। इसके भी दो खण्ड हैं : प्रथम, हिन्दी भक्तिकाव्य की दिशाएँ और द्वितीय, भक्तिकाव्य की सामाजिक-सांकृतिक चेतना। डॉ० प्रेमशंकर 'निवेदनम्' में स्वीकारते हैं कि "दीर्घ कालखण्ड से गुजरता हुआ भक्तिचिन्तन अपने सामाजिक दबावों में रूपान्तरित होता रहा है···। इतिहास के प्रश्न कई बार चुनौती देते हैं क्योंकि व्यक्तियों, घटनाओं आदि से उसका वृत्त पूरा नहीं होता···। आरम्भ में सामाजिक दबावों में बदलते भक्तिचिन्तन और इतिहास-समाज के उन सन्दर्भों की पहचान का प्रयत्न है जो समस्त मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि में मौजूद हैं। इस पीठिका की सही समझ के बाद ही काव्य के सांस्कृतिक-सामाजिक तत्त्व खोजे जा सकते हैं।" हिन्दी भक्तिकाव्य की दिशाओं पर विचार करते हुए उन्होंने 9वीं सदी से लेकर 16वीं शताब्दी के मध्य तक के वृत्त को लिया है। इस तरह वे भक्ति-काव्य का एक विकास क्रम रचते हैं; बौद्ध प्रभाव, सिद्ध साहित्य, नाथपंथ, सन्त काव्य, सूफ़ी परम्परा और भक्तिकाव्य का मूल स्वर। वे मानते हैं कि मध्यकालीन भक्तिकाव्य की भूमिका सिद्धों-नाथों-सन्तों द्वारा निर्मित हुई जिन्होंने शास्त्र, पाण्डित्य, कर्मकाण्ड आदि के विरोध में अपनी आवाज उठाई। सामान्य वर्ग को सम्बोधित करते हुए वे कर्म और आचरण पर बल देते हैं, वह भी प्रखर दो टूक भाषा में। इससे लोकोन्मुखता का वातावरण बना जिसका प्रभाव पूरे महादेश मे

देखा जा सकता है डा० प्रमश्कर ने देशव्यापी काव्य परिवेश का उल्लेख किया है और वे भक्तिकाल को पूर्ववर्ती परम्परा का सर्वोत्तम विकास मानते हैं। मध्यकाल में एक ऐसी सांस्कृतिक चेतना विकसित हुई कि भक्तिकाव्य में उसका प्रतिफलन पूरी क्षमता से हो सका।

कबीर और जायसी पर डॉ० प्रेमशंकर स्वतन्त्र पुस्तकें नहीं दे सके। सम्भवत इसलिए उन्होंने इनका विवेचन यहाँ विस्तार से किया है। कबीर अपने समय के प्रमुख प्रखर, जुझारू और विद्रोही कवि हैं और परसाई जैसे रचनाकारो के प्रेरणास्रोत; 'कहै कबीर सुनो भई साधो' उनका कालम बहुत प्रसिद्ध हुआ। कबीर अपने समय के सबसे अधिक असन्तुष्ट कवि हैं और वे समाज की विडम्बनाओं को ललकारते हैं। जातिवाद, कर्मकाण्ड, आडम्बर आदि पर उनके तीखे आक्रमण हैं और इस दृष्टि से कबीर की सामाजिक सदाशयता सराहनीय है। डॉ० प्रेमशंकर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठाते हैं कि आखिर यह कैसे हुआ कि कबीर में रचना की दो दिशाएँ देखी जा सकती है। एक उनकी सामाजिक विद्रोही चेतना है—मूर्ति-भंजक जैसी, पर यहीं कवि 'दुलहिनि गावहु मंगलचार' जैसी आध्यात्मिक रति की पंक्तियाँ लिखता है और योग की शब्दावली का प्रयोग करता है। डॉ० प्रेमशंकर का विचार है कि ये दोनों दिशाएँ न तो अन्तर्विरोधों के रूप मे देखी जानी चाहिए, न ही सीमान्त की तरह। ये मार्ग एक दूसरे के पूरक हैं और उसी प्रेमपन्थ पर पहुँचना चाहते हैं जिसे कबीर ने कहा है—"ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होय।" यदि ये अन्तर्विरोध भी हैं तो हमें मध्यकाल की परिस्थिति को ध्यान में रखना होगा क्योंकि इसका आशय उच्चतर मानवीय मूल्यों की तलाश ही है (पृ० 32)।

कबीर की तरह मलिक मुहम्मद जायसी का भी यहाँ विस्तृत विवेचन है। प्रथमतः सूफ़ियों के उदारपन्थ का उल्लेख है जिसे लेकर कुछ कट्टरपन्थियों ने कभी अपना विरोध भी प्रकट किया था। पर सूफ़ियों का प्रेमभाव इतना प्रभावी था कि अरब-फारस से आकर, वह भारत में फैल गया। उसका एक समृद्ध चिन्तन पक्ष है और उसे इस सीमा तक अकादमिक अथवा शास्त्रीय नहीं हो जाने दिया गया कि उसकी रचनात्मक सम्भावनाएँ ही समाप्त हो जायें। यदि ऐसा होता तो उसमे मसनवी की वह श्रेष्ठ परम्परा न मिलती जिसमें बाहरी कवियों के अतिरिक्त खय्याम, सादी, जामी जैसे हस्ताक्षर हैं (पृ० 36-37)। सूफ़ी दर्शन-चिन्तन रचना मे मानवीय आधार लेकर प्रकट होता है। इन कवियों ने देसी परिवेश को स्वीकृति दी और यहीं से वे पात्र ग्रहण किये जिससे प्रेमाख्यानों की एक पूरी परम्परा बनी जिसमें जायसी सर्वोपरि हैं। पद्मावत को अपने विवेचन का आधार बनाते हुए डॉ० प्रेमशंकर जायसी को लोकजीवन से जुड़ा कवि मानते है। पद्मावती की कथा प्रचलित इतिहास और कल्पना की मिलन भूमि पर स्थित है और उसके माध्यम

से आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की गई है, जहाँ अवध जनपद उपस्थित है। आचार्य शुक्ल ने नागमती के विरह वर्णन के प्रसंग में 'भारतीय हृदय की साहचर्य भावना' का उल्लेख किया है, जो लोकजीवन की अभिव्यक्ति के कारण है। डॉ० प्रेमशंकर की मान्यता है कि यहाँ कवि राजमहिषी को सामान्यीकृत करता है। उनकी दृष्टि विशेष रूप से काव्य-नायिका, पारसमणि पद्मावती पर गई है जहाँ जायसी की कविता अपने सर्वोत्तम पर पहुँचती है, चाहे वह पद्मावती का रूप वर्णन हो अथवा मानसरोदक खण्ड। उनका विचार है कि पद्मावती के रूप-वर्णन में हीरामन सुग्गा एक सशक्त माध्यम है, क्योंकि वह विवेक-सम्पन्न है, ज्ञान का प्रतीक। पर यहाँ प्रेममार्गी कवि अपने सम्वेदन को गहरे रूप से सम्मिलित करता है। जैसे हीरामन सुग्गे का रूपगर्विता नागमती से यह कहना कि "जेहि सरवर महं हंस न आवा/बगुला तेहि सर हंस कहावा"। सुग्गा महज पक्षी नहीं है, जायसी ने उसे पात्रत्व दिया है।

जायसी में विचारधारा और काव्य के प्रश्न को लेकर कवि-समीक्षक विजयदेवनारायण साही ने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं और उन्होंने इस मान्यता को खारिज किया है कि जायसी को केवल सूफ़ी कवि के रूप में देखा-परखा जाय। डॉ० प्रेमशंकर मानते हैं कि दर्शन, सामाजिक विचारधारा के बिना कविता में एक खतरा यह भी कि वह भावावेग पर चले। विशेषतया जब गहरे संवेदनों का अभाव हो। इस दृष्टि से विचारधारा संवेदन को पुष्ट करती है। सम्भवतः यहां डॉ० प्रेमशंकर मुक्तिबोध के ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान से प्रभावित हैं। उन्होंने बार-बार यह कहा है कि रचना में विचारधारा संवेदन-सम्पत्ति बनकर ही प्रभावी होती है, इसीलिए जायसी के विवेचन में उन्होंने विशेष रूप से उनकी प्रेम परिकल्पना की उदार मानवीय दृष्टि पर बल दिया और कहा कि जायसी का प्रेम परिभाषित है जिसमें त्याग, निष्ठा, समर्पण की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। डॉ० प्रेमशंकर ने कबीर और जायसी को सामासिक संस्कृति के सर्वोत्तम हस्ताक्षरों के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है।

पुस्तक के दूसरे खण्ड में मध्यकालीन सामन्ती समाज के दबावों का उल्लेख और रचना के स्तर पर भक्तिकाव्य का महत्त्वपूर्ण प्रदेय विवेचित है। वे मानते हैं कि भक्तिकाल के कवियों ने अपने परिवेश से असहमति व्यक्त करते हुए, सामंती सम्राटों के विकल्प रूप में समानान्तर चरितनायकों की परिकल्पना की। राम-कृष्ण अथवा निराकार ब्रह्म इसी का बोध कराते हैं। राम-कृष्ण की अपनी सामाजिकता है और उसके कई विरुद जैसे 'गरीबनेवाज' मध्यकाल के प्रचलित शब्द हैं। पर इन कवियों का वैशिष्ट्य यह कि इन काव्य-नायकों के माध्यम से वे समय का अति-क्रमण करते हैं। डॉ० प्रेमशंकर ने कविता में आने वाले देवत्व को सामाजिक दायित्व से सम्पन्न बताया है और उनके मानवीय क्रिया-कलापों का विशेष उल्लेख

किया है। वे उन्हें मध्यकाल के जननायक कहते हैं और यह एक प्रकार का समानान्तर नेतृत्व है जो सामन्तवाद को चुनौती देता है। यह उदार भक्ति स्वर है जिसमें सब वर्ग सम्मिलित होते हैं और उनका कहना है कि भक्त कवि शरीर-वाद-भोगवाद का विरोध करते हुए, उसके स्थान पर नया मूल्य संसार बनाना चाहते है। मूल्यों की चिन्ता भक्ति काव्य की अप्रतिम विशेषता है, सामाजिक समर्पण के प्रतीक चरित्र और जीवन मूल्यों का उनमें प्रक्षेपण। कई बार ये आदर्शवादी हो जाते हैं जिसे कई विद्वानों ने 'युटोपिया' भी कहा है, पर भक्ति-भाव का अपना 'विज़न' है जिसे उन्होंने जीवन-संघर्ष के भीतर से पाया है। डॉ० प्रेमशंकर भक्तिकाव्य को एक सजग चेतना दृष्टि से देखते है। उनका प्रयोजन उस मूल सामाजिक-सांस्कृतिक बनावट को उजागर करना है जिसे कवियों ने दुहरे रूप में प्रक्षेपित किया है, एक तो अपने समय समाज के दबावों को स्वीकारते हुए उसे चित्रित करना, एक यथार्थ स्थिति की स्वीकृति और दूसरे नई सामाजिक चेतना तथा मूल्यों की तलाश (पृ० 110)। इन कवियों की जो चिंता है वह महान काव्य का लक्षण है, जिसे हर सार्थक रचना-वृत्त में देखा जा सकता है।

'भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र' प्रेमशंकरजी की नवीनतम पुस्तक है जिसके आरंभिक वक्तव्य में उन्होंने भक्तिकाव्य के विषय में इस नये प्रयत्न के औचित्य पर प्रकाश डाला है। उन्होंने भक्तिकाव्य को एक व्यापक वैचारिक आन्दोलन की उपज के रूप में देखा है जिसे वे 'मध्यकालीन भारतीय जागरण' कहकर सम्बोधित करते हैं। उनकी स्थापना है कि भक्तिकाव्य में मध्यकालीन सामंती समाज के अन्तर्विरोध देखे जा सकते हैं, "पर भक्तकवि इससे बाहर भी निकलते हैं और समय का अतिक्रमण करते हुए अपना कल्पित संसार रचाते हैं—मूल्यचिन्ता का जगत। इसे हम रामराज्य, बैकुंठ, आध्यात्मिक जगत कोई भी नाम दे सकते हैं, पर रचना का मूल्य-संसार सबसे विचारणीय पक्ष है।" वे उसके मानवीय पक्ष की सबसे अधिक सराहना करते हैं।

'भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र' एक निबंध-शैली की पुस्तक है और इसका विन्यास भक्तिकाव्य सम्बन्धी डॉ० प्रेमशकर की अन्य पुस्तकों से भिन्न है। यहाँ कुल बारह निबन्ध है जिनमें कुछ सैद्धान्तिक-वैचारिक पक्ष से सम्बद्ध हैं : भक्ति-काव्य : कुछ प्रासंगिक प्रश्न, वैष्णव भावना : मानवीय दृष्टि, भक्ति : सामाजिक पक्ष और सांस्कृतिक आधार, भक्तिकाव्य : आधुनिक संदर्भ और वैकल्पिक व्यवस्था, भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र। कुछ निबंध भक्तकवियों की रचनाशीलता को लेकर है : कबीर का समाजदर्शन, जायसी का ग्राम-बोध, सूर : मानवीय सरोकार, सूर : लोक-जीवन और किसानी-चरागाही संस्कृति, तुलसी की सामाजिक चेतना, तुलसी

के राम और मूल्यों का प्रश्न, मीरा : विशिष्ट स्वर। इस प्रकार भक्तिकाव्य का वृत्त पूरा होता है।

भक्तिकाव्य के सन्दर्भ में डॉ० प्रेमशंकर कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं जैसे उसमें समय की उपस्थिति और उसका निषेध, कालजयी स्वर और प्रासंगिकता आदि। जाहिर है कि नया लेखक प्राचीन रचनाशीलता को आज के समय-संदर्भ मे देखना चाहता है। प्रेमशंकर भक्तिकाव्य की प्रतिबद्धता की बात करते है— सास्कृतिक प्रयोजन, मानवीय उपस्थिति, मूल्यचिन्ता, गहरा सामाजिक आशय, सामान्यजन को सम्बोधित कर सकने की क्षमता, वैकल्पिक संसार की कल्पना के साथ रचना की कालजयता। ध्यान दें तो प्रेमशंकर भक्तिकाव्य को मानवतावादी विचारों से जोड़कर देखना चाहते हैं। इसीलिए वे वैष्णव भावना की मानवीय दृष्टि का विशेष उल्लेख करते हैं, यहाँ तक कि उसमें विद्रोही चेतना का संकेत पाते हैं (पृ० 44)। वे सूर की कृषि-चरागाही संस्कृति को रेखांकित करते हैं। कबीर के क्रातिकारी स्वर और उनकी आध्यात्मिक चेतना में अधिक विरोध न देखकर, वे उन्हे मानवीय आशय तक पहुंचने का मार्ग मानते हैं। जायसी का ग्राम-बोध उन्हे विशेष रूप से प्रभावित करता है क्योंकि यहाँ लोकजीवन की उपस्थिति संवेदन के धरातल पर हुई है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और रामविलास शर्मा से लेकर रमेशकुन्तल मेघ, शिवकुमार मिश्र, विश्वनाथ त्रिपाठी, वीरेन्द्र मोहन तक ने भक्तिकाव्य के मानवीय पक्ष का विवेचन करते हुए, एक प्रकार से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की लोकधर्मी परम्परा को अग्रसर किया है। डॉ० प्रेमशंकर का प्रयास भी इसी दिशा में है। भक्तिकाव्य के समाजशास्त्र की पड़ताल करते हुए वे उन कारकों तक जाते है जिन्हें हम काव्य के प्रेरणास्रोत कह सकते हैं। प्रेमशंकर कवि-आलोचक हैं और उन्होंने भक्तकवियों को उसी निकटता से देखने का प्रयत्न किया है जैसा कि 'हिन्दी स्वच्छंदतावादी काव्य' में प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी को अथवा 'नयी कविता की भूमिका' में नये कवियों को। मसलन 'भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र' में मीरा को विशिष्ट स्वर कहकर सम्बोधित किया गया है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, के क्रम में मीरा और प्रसाद, निराला, पंत के क्रम में महादेवी। मीरा मे डॉ० प्रेमशंकर नारी-मुक्ति का स्वर देखते हैं जो मध्यकालीन सामन्ती परिवेश को ध्यान में रखते हुए, रेखांकित करने योग्य है। इस प्रकार 'भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र' में आकर डॉ० प्रेमशंकर का भक्तिकाव्य सम्बन्धी विवेचन जैसे एक समापन प्राप्त करता है।

इन छः पुस्तकों में भक्तिकाव्य का सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए डॉ० प्रेमशंकर ने समाजशास्त्रीय अवदानों का उपयोग किया है। यह एक प्रकार से अन्तरानुशासनीय प्रयत्न है और सही तैयारी के बिना इस प्रकार के

अध्ययन सभव नही होते समय-सीमा मे इनके जो हिस्से विस्तार नही पा सके हैं जैसे मूल्यो तथा ग्राम-सस्कृति को लेकर स्वतत्र विवेचन करना इसे डा० प्रेमशकर ने अपने शोध-निर्देशन में पूरा करवाया है जिनमें प्रमुख हैं—डॉ० वीरेन्द्र मोहन और डॉ० लक्ष्मीचंद। डॉ० प्रेमशंकर के पास इतिहास, समाजशास्त्र, विचारधारा और काव्य की अपनी समझ है और इसका प्रयोग उन्होंने भक्तिकाव्य के विवेचन में किया है। पुस्तकें भक्तिकाव्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की दिशा में एक ऐसा ईमानदार प्रयत्न हैं जो उस परम्परा को अग्रसर करता है जिसे हम हर महत्त्वपूर्ण सार्थक रचना में देखना चाहते हैं।

नयी कविता की भूमिका

आनन्दप्रकाश दीक्षित

कलकत्ता विश्वविद्यालय की बिड़ला व्याख्यानमाला के माध्यम से निर्मित प्रस्तुत पुस्तक यद्यपि कविता का समाजशास्त्र और समकालीन कविता-संसार को भी अपने अन्तर्गत समेटती है, परन्तु वस्तुतः यह लेखक की उस बृहद योजना का प्रथम चरण मात्र है जिसके अन्तर्गत वह अभी उक्त दोनों विषयों पर अलग-अलग दो पुस्तकें और प्रस्तुत करने के क्रम में है। इस कृति के पाँच लेखों में से जहाँ उक्त दो इसके आदि और अन्त का गठन करते हैं, वहां क्रमशः हिन्दी स्वच्छंदतावाद का रूपान्तरण, नया काव्यारम्भ तथा नया काव्य और जीवन-यथार्थ शीर्षक तीन लेख इसके मध्यवर्ती भाग का निर्माण करते हैं। कुल मिलाकर यह लेखक के मूल सरोकार—कविता का समाजशास्त्र—और हिन्दी नयी कविता के आरम्भ से लेकर समकालीन कविता के दौर तक की हिन्दी रचनाधर्मिता से सम्बन्धित कुछ मूल मुद्दों को विचार-क्रम में प्रस्तुत करती है, कविता का इतिहास-लेखन इसका लक्ष्य नहीं है।

साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन हो या समाजवादी, मार्क्सवादी, प्रगतिवादी या जनवादी लेखन हो, गजानन माधव मुक्तिबोध हिन्दी में उसके मसीहा और 'निराला' उसके आदिकवि के रूप में उद्धृत किये जाते हैं और गाहे-बगाहे 'अज्ञेय' के प्रति आक्रामक रवैया अपनाया जाता है। यह इसलिए कि 'अज्ञेय' के चिन्तन और सृजन में मूलवर्ती कुछ बिन्दु ऐसे हैं जो इस चिन्तन सर्जन से न केवल मेल नहीं खाते, बल्कि उसके विरुद्ध भी जाते जान पड़ते हैं। विरुद्ध का खण्डन कोई आश्चर्यकारक बात नहीं है, पर उसकी सम्पूर्ण अस्वीकृति और अनदेखी स्वयं में एक सीमा भी तो है जो संकोच उत्पन्न करती है। प्रेमशंकर समाजशास्त्रीय दृष्टि से 'अज्ञेय' की खामियों का उल्लेख अवश्य करते हैं, पर उनकी कुछ विशेषताओं को भी रेखांकित करना नहीं भूलते। 'निराला' और 'मुक्तिबोध' ऐतिहासिक तौर पर अपरिहार्य हैं तो अपनी जगह वे भी हैं। प्रायः जहाँ अन्य आलोचक वस्तुपक्ष का निरूपण करके ही आलोचनाकर्म की इति कर्त्तव्यता मान लेते और उतने से संतुष्ट

हो जाते है प्रेमशंकर अपने अध्ययन को भाषा और अभिव्यक्ति पक्ष से भी जोड़ते है और यह जुड़ाव सबसे अधिक और स्पष्ट रूप में अन्तिम लेख में समकालीन कविता-संसार का विचार करते हुए दिखायी देता है।

लेखक का मुख्य सम्बन्ध जिन प्रश्नों से रहा है वे इस पुस्तक में अन्तर्व्याप्त होकर ही उपस्थित हुए हैं अर्थात् जितने और जैसे वे विषय से सम्बद्ध होकर लेखकीय चिन्तन-क्रम में उभरते हैं उतने ही वे इनमें से केवल किसी एक में नहीं बल्कि सभी लेखों से सम्बन्ध रखते हैं। और इनमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उनकी उपस्थिति बनी रहती है। कहा जा सकता है कि ये वे मूल सूत्र हैं जिन्हें लेखक कविता के जरिए सुलझाने, समझाने, परखने का प्रयत्न करता है। ये हैं: अनुभवगत यथार्थ, शुद्ध साहित्य, साहित्य की स्वायत्तता, प्रतिबद्धता, लेखक का समाज, सास्कृतिक दायित्व, रचना और जीवन-मूल्य, रचना की कालजयता, तात्कालिकता और वर्तमान, लेखकीय व्यक्तित्व और लेखक का निजी संसार, ईमानदार सवेदन, रचनात्मक अन्विति और अन्तत. रचना की भाषा।

इन प्रश्नों को प्रेमशंकर लगभग पहले ही लेख में सूत्र-रूप में उपस्थित कर देते है। 'कविता का समाजशास्त्र' में वे कविता पर समाज के दबाव को स्वीकार करते हुए कवि से अपेक्षा करते हैं कि वह उन दबावों को अपने अनुभवगत यथार्थ में परिवर्तित करे और इस क्षमता से करे कि उसके अनुभव और उसकी अभिव्यक्ति में अन्तराल की प्रतीति न हो अन्यथा यह प्रतीति उसकी असफलता का द्योतक मानी जायेगी। अनुभव और अभिव्यक्ति को इस रूप में ग्रहण करने के कारण ही प्रेमशंकर समाजशास्त्र का सम्बन्ध एक साथ भावजगत, विचार-जगत और रचना-प्रक्रिया तीनों से और समग्रतया स्थापित करते है। वे यह भी नहीं छिपाते कि विशेषत: संरचना के क्षेत्र में समाजशास्त्रीय सौन्दर्यशास्त्र की अपनी सीमाएं भी हैं और मानते हैं कि "यहीं उन पुरातनपंथी शास्त्रियों को अवसर मिल जाता है जो शुद्ध साहित्य तक की बात करते हैं, वह भी रचना की स्वायत्तता के बहाने से।" हम यहाँ इतना ही कहना चाहेंगे कि पुरातनपंथी शास्त्रियों को नहीं, जो कवि को महान भार से दबा हुआ पाते और स्वीकार करते रहे, बल्कि नव्यतावादियों को ही यह चिन्ता अधिक सताती रही है। डॉ० प्रेमशंकर साहित्य की स्वायत्तता को उसी सीमा तक स्वीकार करते हैं जब तब कि वह व्यापक सामाजिक संवेदन से न टकराये। साहित्य की स्वायत्तता के नाम पर सांस्कृतिक दायित्व को नकारना उन्हें स्वीकार नहीं है। और सांस्कृतिक दायित्व से उनका तात्पर्य है सामाजिक पुनर्निर्माण में रचना की सक्रिय भूमिका का होना। उन्हीं के शब्दों में, "इस जटिल समाज में ऐसे अवसर आना स्वाभाविक है जब रचनाकार की स्वतंत्रता और उसके गहन सांस्कृतिक दायित्व—दोनों को साथ ले चलने में कठिनाई हो। पर किसी भी स्थिति में यदि रचना बृहत्तर मानव-समाज को सम्बोधित नहीं

करती तो वह सांस्कृतिक दायित्व के निर्वाह में असफल कही जायेगी।'

डॉ० प्रेमशंकर जिस 'व्यापक सामाजिक संवेदन' और 'बृहत्तर मानव-समाज' की ओर इंगित कर रहे हैं वह मात्र मनुष्य समाज नहीं है, सामान्य जन का सर्वहारा समाज है। इसे संबोधित न करने वाली रचना को वे रचना-दृष्टि से असफल नहीं कहते, 'सांस्कृतिक दायित्व के निर्वाह में असफल' कहते हैं। संदेह हो सकता है कि उनके मन-मस्तिष्क में कहीं न कहीं रचनात्मकता या रचनात्मक सफलता और सांस्कृतिक (सामाजिक) दायित्व के निर्वाह की सफलता-असफलता के बीच फांक है, दोनों एक ही नहीं हैं। और यदि ऐसा है तो स्वायत्ततावादियों-व्यक्तिवादियों के लिए जगह सुरक्षित ही नहीं रह जाती, उन्हें प्रकारान्तर से अधिक महत्त्व भी मिल जाता है। यानी प्रेमशंकर की स्थिति प्रच्छन्न बौद्ध की सी हो जाती है। पर थोड़ा ही आगे चलकर उनकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है और वे छद्म-मुक्त हो जाते हैं, जब वे रचना को वैयक्तिक प्रयत्न मानने के बावजूद उसे वस्तुतः सामूहिक अभिव्यक्ति कहते हुए व्यक्ति तथा समाज के अनुभव के समन्वय की मांग करते हैं और आधार-वस्तु, यथार्थ तथा कल्पना का योग और उन तत्त्वों की 'अन्विति' पर बल देते हैं। रचना, उनकी दृष्टि में मूलतः एक कलात्मक अन्विति है और 'जितनी अन्वितिक्षमता अधिक होगी, उतनी ही कृति सुन्दर होगी।' अतएव सांस्कृतिक दायित्व के निर्वाह में असफलता कलात्मक अन्विति की असफलता भी है, 'रचना' की असफलता भी है।

संदेह की गुंजाइश तब भी है जब वे सार्थक कृति में मानव-मूल्यों के संयोजन की बात करते हैं और मानवीय तंतुओं से रचना की कालजयता की सिद्धि स्वीकार करते हैं। मानव-मूल्यों की बात करते ही वे प्राचीनों के पक्ष में जा पड़ते हैं। उनका यह तर्क कि 'युद्ध का विरोध करते हुए शान्ति के पक्ष में रचा गया साहित्य शिविरों की चिन्ता न करके, मानव-मूल्यों को प्रतिपादित करता है' भी यही प्रतीति कराता है कि वे पिच्छल भूमि पर चल रहे हैं। किन्तु सजग पाठक को शायद अतिरिक्त सावधानी न बरतनी पड़े, यदि वह यह नहीं भूलता कि यहां शिविर वैचारिक-सिद्धान्तवादिता की अपेक्षा देश-कालबद्ध प्रतिद्वन्द्वी शिविर ही अधिक अभिप्रेत है, और दूसरे यह कि यहाँ मानव-मात्र के हित और सर्वहारा या सामान्यजन के हित के बीच किसी प्रकार का टकराव संभावित नहीं है। तीसरे, यह भी कि प्रेमशंकर चूंकि स्थिर और परम्परित मूल्यों की नहीं, गतिमान और बदलते सामाजिक सन्दर्भों वाले मूल्यों में विश्वास व्यक्त करते हैं, अतएव उनके द्वारा आकांक्षित मूल्य व्यापक जन-समाज के उस वर्ग के हितों के विरुद्ध नहीं पड़ते जिसे उन्होंने सामान्यजन या सर्वहारा कहा है। बल्कि एक तरह से उसके बीच से उभरते और अपने संस्कार-प्राप्त स्वरूप को परिपुष्ट और प्रमाणित करते प्रेमशंकर की चिन्ता का प्राथमिक बिन्दु है, मूल्यों की गतिमानता की सही पहचान और उन

तत्वों का विश्लेषण जिससे उन्हें नया स्वरूप मिला है और उनका स्पष्ट कथन है कि "संरचना में हमारी मूल्यगत चिन्ता वैचारिकता और संवेदन के सम्मिलित योग से बनती है और श्रेष्ठ कवि उसे एक कलारूप देने में समर्थ होते हैं।"

उनकी मूल्यगत चिन्ता का स्वरूप इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि वे रचना को मात्र स्वीकृति नहीं, व्यापक अर्थ में एक निषेध भी मानते हैं और मानते हैं कि "···बड़ा लेखक अपने समय-समाज को चुनौती देता है, ललकारता है, एक बेहतर समाज में प्रवेश करते हुए। यहीं वह स्रष्टा है, मूल्य-निर्माता है और सस्कृति के इतिहास का नियामक भी।" प्रेमशंकर जीवनानुभव से उगे हुए मूल्यों के विश्वासी हैं, कल्पित, या कदाचित वायवी मूल्यों के नहीं। उनकी दृष्टि में "यही रचना की सही प्रतिबद्धता है, निजता को निरन्तर जीवनानुभव से सम्पन्न बनाते हुए और बृहत्तर संसार से जुड़ते हुए।" किसी विचारधारा से जुड़ते हुए होने की बात वे नहीं कहते, उस विचारधारा के अन्त:सत्य को ग्रहण करते हुए प्रतिबद्धता की बात उठाते हैं। स्पष्ट दीख पड़ेगा कि इन मुद्दों पर की गयी चर्चा एक सूत्र में इस प्रकार गुंथी हुई है कि विचार-क्रम में सहज परिणति के रूप में उपस्थित होती चलती है। आग्रह और खण्डन-मण्डन का जाना-पहचाना रूप उनके कथनों में नहीं उभरता।

'हिन्दी स्वच्छन्दतावाद का रूपान्तरण' लेख की मूल भूमि यह है कि उसे 'दो महायुद्धों के बीच का काव्य' कहकर नई अंग्रेजी कविता के समानान्तर मानने के भ्रम को तोड़ा जाए और हिन्दी में उसकी रूमानी प्रवृत्तियों की अंग्रेजी कविता के आधुनिकता के तेवर से अलग पहचान कराई जाए। लेख अधिकांशत: निराला के रचना-संसार और स्वातंत्र्य आंदोलन की पीठिका पर आधारित है। पंत का कुछ उल्लेख अवश्य है पर प्रसाद बिल्कुल गायब हैं। 'नया काव्यारम्भ' के अंतर्गत लेखक की स्थापना है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का जुड़ाव मध्यवर्ग से है, क्योंकि इसी से अधिकांश लेखक आये भी हैं। परिणामत: सामान्य जन की चर्चा मध्य-वर्गीय मानसिकता के साथ हुई है। इसीलिए रचना में कई बार छद्म जैसा भी दिखाई देता है और हम उसमें एक विभाजित व्यक्तित्व को क्रियाशील देखते हैं। इस काल में आधुनिकता जैसे कुछ गौण प्रश्न ही सामने आए हैं। लेखक की दूसरी स्थापना है कि "आजादी के बाद जिस परिवेश में हिन्दी कवि को अपने कविता कर्म का निर्वाह करना था, वह सरल नहीं था और यह अकारण नहीं कि कुछ भावुक वक्तव्यों को छोड़कर नये काव्य का प्रथम चरण प्राय: एक नवोदित राष्ट्र के प्रति गहरी आशा-आकांक्षा से परिचालित नहीं प्रतीत होता। एक राजनीतिक घटना और सर्जना के बीच इतना अन्तर आकस्मिक नहीं है क्योंकि भारत में आजादी के प्रति मोहभंग की शुरूआत जल्दी हो जाती है, गांधी के निधन के आस-पास।"

हो सकता है मोहभंग की स्थिति यहीं से रही हो; विभाजित देश को पाकर

सन्तोष तो प्रायः नहीं ही था, पर क्या वह आज़ादी भी इतनी महत्त्वहीन थी कि जिस सर्जक से स्वीकार की ही नहीं निषेध की भूमिका के निर्वाह की भी आकांक्षा व्यक्त की गई है और जिसे एक मूल्यनिर्माता और संस्कृति इतिहास का नियामक कहा गया है, उसके मन में रहे-सहे का भी निर्माण करने की आकांक्षा उत्पन्न होनी चाहिए थी। मेरे विचार से यह मोहभंग कारण नहीं है, कारण कहीं और है और उसका अता-पता उस काल की वैचारिकता ही दे सकती है। अस्वाभाविक नहीं है कि लेख अज्ञेय के रचना-संसार और उनकी विचार-दृष्टि का पूरे विस्तार से विवेचन करता है। निश्चय ही लेख और भाषण की अपनी सीमा अन्य कवियों को मात्र उल्लेख से आगे नहीं बढ़ने देती।

'नया काव्य और जीवन यथार्थ' की सम्बद्धता मुख्यतः इस बात से है कि रचना में जीवन-यथार्थ का स्वरूप क्या है और कि रचनाकार उसका उपयोग किस प्रकार करता है। उनकी मान्यता है कि "प्रगतिवादी कवियों की वैचारिक प्रतिबद्धता उन्हें वह दृष्टि देती है कि वे जीवन यथार्थ पर वस्तुपरक ढंग से विचार कर सकें और इसीलिए उनमें चीजों के रूमानीकरण की प्रवृत्ति कम है। वे दृश्यों को सीधे जीवन से उठा लेते हैं। आरम्भ में उनमें ग्राम-जीवन की बहुलता रही है पर तेज़ी से बढ़ते शहरी समाज की विडम्बनाओं की ओर भी इनकी दृष्टि गई है।" इनमें प्रकृति और लोक जीवन का समन्वय अधिक दिखाई देता है।

इसी लेख में प्रेमशंकर जहाँ यह कहते हैं कि "आज़ादी के बाद धीरे-धीरे कमज़ोर पड़ते वामपंथी आन्दोलनों में हिन्दी रचनाकारों की प्रतिबद्धताएं भी कई कारणों से बदली हैं और कवियों ने इस बात का प्रयत्न किया है कि वे जीवन-यथार्थ को अपनी अनुभूति से जोड़कर प्रस्तुत करें।" अथवा यह कि "बदलते सामाजिक परिवेश में रचना में नये मोड़ आते हैं, इसलिए जो लोग नये हिन्दी काव्य में केवल शिल्प के आधार पर परिवर्तन बताना चाहते हैं, उनसे सहमत नहीं हुआ जा सकता।" हाँ, "कविता का स्वयंसम्पूर्ण अथवा परम स्वतंत्र संसार नहीं हो सकता और सार्थक होने के लिए व्यापक जीवन से जुड़ना उसकी अनिवार्यता है, पर कवियों ने अपने-अपने ढंग से इस कार्य को करना चाहा है। उनकी वैचारिक प्रतिबद्धताएं तो अलग-अलग हैं ही, उनका शिल्प भी एक जैसा नहीं है।" वहीं वे यह भी छिपाना नहीं चाहते कि "वास्तविकता यह है कि भारतीय समाज में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट होता है, पर बहुत समय तक उसके साथ चल पाना संभव नहीं हो पाता।" यद्यपि लेखक इस साथ न चल पाने के कारणों में नहीं जाता, पर मान लिया जा सकता है कि यह मध्यवर्गीयता ही उसके सीधे और गहरे तथा स्थायी जुड़ाव में बाधक तत्व है, पर हमारी दृष्टि में वही एक मात्र कारण नहीं है, कारण कहीं हमारी संस्कृति और परम्परा में भी है और स्वयं मार्क्सवादी चिन्तन में भी; उन्हें स्पष्ट सामने आना चाहिए था। यहां फिर

बात विशेषत नागार्जुन केदारनाथ अग्रवाल रामविलास शर्मा मुक्तिबोध और त्रिलोचन को घेरकर चलती है और रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना तथा श्रीकांत वर्मा उल्लेख से आगे नहीं बढ़ पाते। शमशेर तो मुक्तिबोध के साक्ष्य पर रोमांटिक और क्लासिक प्रवृत्तियों के कवि बने रह जाते हैं।

अन्तिम लेख—समकालीन कविता संसार—यद्यपि लम्बा नहीं है, पर अनेक महत्त्वपूर्ण मुद्दों की प्रस्तुति के साथ-साथ भाषा और रचना-शिल्प को भी समेटता चलता है और इस तरह विवेच्य काव्य को समग्रता और सम्पूर्णता में देखने में सहायक होता है। प्रेमशंकर 'समय के यथार्थ से अनुभव के स्तर पर गुजरना और एक दृश्यालेख में बांध सकने की क्षमता' में कविता की समकालीनता की पहचान करते हैं। वे अमानुषीकरण की तेज प्रक्रिया का अहसास कराते हैं, कविता के 'रचनात्मक हस्तक्षेप', वैचारिकता और संवेदन के साथ कविता में कवि की उपस्थिति की, निजी दुनिया को भी वस्तुपरक ढंग से देख पाने की अथवा 'निर्वैयक्तिक निजता' की। इसी प्रकार भावावेग तथा मात्र वैचारिक अनुवाद से हटकर 'सही समझ' की चर्चा करते हैं और समकालीन कविता में 'नंगी सार्थक भाषा', विधाओं और माध्यमों की दीवारों को तोड़कर नई दिशाओं में उसकी गतिशीलता, भाषा का जनवादीकरण, भाषा को जीवन से सीधे पाते हुए भी सपाटबयानी से बचने का उसका यत्न, सहज संवादिता और उसका खुलापन, उसकी नकारात्मकता, बड़-बोलापन आदि का भी कविताओं के सहारे विशद विचार करते हैं। यहाँ आकर उनका लेखन अपेक्षाकृत अधिक सघन और गम्भीर हो जाता है। सारांशत पुस्तक स्वातंत्र्योत्तर कविता की दीर्घयात्रा में आये हुए मोड़ों और पड़ावों से पाठक को परिचित ही नहीं कराती, उसे उस यात्रा का सहभागी बनाते हुए उसकी विचारशीलता को भी समृद्ध करती है, इस रूप में वह पठनीय है और सग्राह्य भी।

आलोचना में हस्तक्षेप

मधुरेश

मलयज के अवसान पर लिखी गई अपनी एक टिप्पणी में अशोक वाजपेयी ने हिन्दी में 'कवि-आलोचक' को एक सुप्रतिष्ठित इकाई बताते हुए पिछले दो-ढाई दशकों की हिन्दी-आलोचना में उन्हें नई दृष्टि और उत्तेजना लाने का श्रेय दिया है। विस्तार में जाने पर अशोक वाजपेयी की इस स्थापना में अनेक पूर्वग्रह और अतिरंजनाएँ खोजी जा सकती हैं और इन्हें ही वह जीवन्त एवं सार्थक आलोचना का प्राण-चिन्ह मानते हैं, लेकिन सार-रूप में उनके इस वक्तव्य में पर्याप्त सच्चाई है। छायावादी कवियों से लेकर अज्ञेय-मुक्तिबोध-साही को समेटती हुई यह परम्परा समकालीन रचनात्मक परिदृश्य तक साफ देखी जा सकती है। प्रायः इन सभी कवियों की अपनी कविता और प्रचलित काव्य प्रतिमानों के बीच का तनाव ही उन्हें आलोचना की दिशा में सक्रिय बनाता है। अधिकांश आलोचना उनकी अपनी कविता के पक्ष में प्रतिवेदन जैसी है जिसमें वे नई काव्य-दृष्टि और संवेदना के विस्तार की माँग करते देखे जा सकते हैं। दूसरे कवियों का उनके द्वारा किया गया मूल्यांकन भी प्रकारान्तर से उनकी अपनी कविता के लिए उन्हीं प्रतिमानों को निकष बनाये जाने की ध्वनि लिये है। इस नयी संवेदना और दृष्टि के विस्तार की प्रक्रिया में ही वे अपने समानधर्माओं की खोज करते चलते हैं, और स्वाभाविक रूप से, अनेक कवियों का उल्लेख करके प्रतिपक्ष के उदाहरण भी जुटाते हैं। उनके काव्य-प्रतिमानों और संवेदना का प्रचलित दृष्टि से हुआ द्वंद्व ही उनकी मौलिकता एवं सार्थकता का प्रमुख कारक बनता है। छायावाद और छायावादोत्तर हिन्दी कविता का इतिहास साक्षी है कि प्रसाद, निराला और मुक्तिबोध प्रचलित संवेदना और काव्य-दृष्टि से अपने तनाव के कारण बड़े कवि होने के साथ ही बड़े आलोचक भी हैं।

इस दृष्टि से प्रेमशंकर पर विचार करते हुए कई बातें साफ होती हैं। प्रेमशंकर बेशक एक कवि-आलोचक हैं। उनके आलोचना-कर्म की शुरूआत उनके शोधकार्य 'प्रसाद का काव्य' से होती है और बहुत बाद में 'पहाड़ी पर बच्चा' के

प्रकाशन से वह कवि रूप मे भी अपनी उपस्थिति जताते हैं। स्पष्ट ही वह उन आलोचकों में से नहीं हैं जो अपनी कविता के तिरस्कार और उपेक्षा की प्रतिक्रिया में आलोचक बनते हैं। उनकी आलोचना और कविता दोनों में उस तनाव का अभाव है जो अपने समय की प्रचलित संवेदना से हुई टकराहट से उपजता और विकसित होता है। आलोचक की हैसियत से वह भी शोध के चौखट में उनका मुख्य कार्य-क्षेत्र या तो छायावादी काव्य है या फिर भक्तिकाल। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के सम्पर्क में छायावाद और विशेषकर प्रसाद के काव्यास्वाद को आधार बनाकर वह अपनी आलोचना-यात्रा शुरू करते हैं। नयी कविता के दौर में प्रसाद के साहित्यिक अन्वेषण की एक विशेष सार्थकता भी थी। निश्चय ही वह सार्थकता और बढ़ जाती है जब छायावाद और प्रसाद के निकट वृत्त में रहे नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे आलोचक अपने शोध-निर्देशक के रूप में उन्हें सहज उपलब्ध थे। बाद में 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' और 'आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी' पुस्तकें उनके इस कार्य का विस्तार जैसी हैं।

इसी प्रकार बाद में वह भक्तिकाल की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि मे उसके प्रमुख कवियों के अध्ययन को अपना मुख्य कार्य-क्षेत्र बनाते हैं। भक्ति-काव्य की भूमिका, भक्ति-चिंतन की भूमिका, कृष्णकाव्य और सूर, रामकाव्य और तुलसी तथा भक्तिकाव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना, भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र उनकी ये छः पुस्तकें शोधकार्य के माध्यम से किए गए कार्य का नया रूपान्तरण हैं। स्पष्ट ही इस अध्ययन द्वारा भक्तिकाल के कुछ अनुद्घाटित पक्ष प्रकाशित हुए हैं, लेकिन इस आलोचना-कर्म में—जो शोधकार्य की स्वाभाविक सीमाओं में ही सम्पन्न हुआ है—उनकी अपनी कविता से संगति बिठाना सम्भव नहीं है। अपनी समकालीन रचनाशीलता में प्रेमशंकर का स्वतन्त्र हस्तक्षेप वैसा सघन नहीं है जैसा वह उनके ही कुछ अन्य समकालीन कवि-आलोचकों का है। 'नयी कविता की भूमिका' जो तीन खण्डों में प्रस्तावित है, का पहला खण्ड ही प्रकाशित हुआ है। 'सृजन और समीक्षा' में संकलित उनके निबन्ध और इसी तरह अन्यत्र प्रकाशित और अभी असंकलित कुछ और निबन्ध ही, वस्तुतः उनके इस हस्तक्षेप का प्रमाण माने जा सकते हैं। यहाँ हम केवल 'सृजन और समीक्षा' तक ही अपने को सीमित रखकर बात करेंगे।

भक्तिकाल सम्बन्धी अपने अध्ययन के क्रम में प्रेमशंकर अपने समकालीन साहित्य में भी उसके समाजशास्त्रीय विश्लेषण को वरीयता देते हैं। यहाँ वह साहित्य को समाज की समानान्तरता में देखकर उसके सामाजिक सन्दर्भों का विश्लेषण तो करते हैं, लेकिन ऐसे किसी अध्ययन में आवेग और विवाद की भूमिका बहुत सीमित होती है। इसलिए ऐसी आलोचना एकरसता की शिकार भी हो सकती है जो अपने समकालीन लेखन की पड़ताल में प्रवृत्त होने पर भी

उत्तेजना से प्राय: अछूती बनी रहती है। अपने चरित्र में वह शान्त और निरुद्वेग होती है जो विवादों से बचती हुई अपना रास्ता बनाती है। अपने विवेचन और निष्कर्षों में चूँकि वह बहुत क्रांतिकारी स्थापनाओं से बचती है, अपने चरित्र मे वह एक ऐसे संतुलन पर जोर देती है जिसमें मतभेद की भूमिका स्वत: सीमित हो जाती है।

प्रेमशंकर सृजन और समीक्षा के अन्त:सम्बन्धों की अपनी पड़ताल में जिन मुद्दों पर विचार करते हैं उनमें रचना की भारतीय अवधारणा, नयी रचना का सकट, साहित्य और सामाजिक दायित्व और प्रेषणीयता के प्रश्न को विशेष रूप से शामिल करते हैं। हिन्दी आलोचना की स्थिति पर उन्होंने किंचित विस्तार से, चार निबन्धों में विचार किया है जिनमें आलोचना की सामाजिकता से लेकर नवलेखन से समीक्षा के सम्बन्धों के साथ ही समीक्षा की हालत पर भी बात की है। प्रेमशंकर रचना के समाजशास्त्रीय सन्दर्भों पर विशेष बल देते हैं और मानते हैं कि समाज की टूटन और बिखराव की स्थिति में, कलाओं के संकुचन के परिणामस्वरूप, भारतीयता की अवधारणा दुर्बल होती है। इस दृष्टि से भक्तिकाल को वह सर्वाधिक महत्त्व देते हैं जिसमें संगीत, मूर्तिशिल्प, स्थापत्य और काव्य आदि कलाएँ पारस्परिक संवाद को सम्भव बनाती हुई रचना की भारतीय अवधारणा को पुष्ट करती है। रीतिकाल का काव्य, अपनी सारी कथित कलात्मकता के बावजूद, जीवन-स्पंदन की दुर्बलता के कारण बृहत्तर समाज के प्रतिनिधित्व मे असफल रहता है। आधुनिक काल में राष्ट्रीयता एवं सुधारवाद की भावनाएँ आधुनिक रचना की भारतीय अवधारणा को फिर पुष्ट करती दिखाई देती है। नवमानववाद से जुड़ती हुई यह भावनाएँ बंकिमचन्द्र से लेकर प्रेमचंद तक बहुत स्पष्टता से लक्षित की जा सकती हैं। स्वातंत्र्योत्तर काल की रचनाशीलता पर राजनीतिक दबावों के संदर्भ में प्रेमशंकर की टिप्पणी है : "राजनीति के सत्ता तक केन्द्रित हो जाने पर उसकी लोकोन्मुखता दुर्बल हुई है" (सृजन और समीक्षा, पृ० 16)।

नयी रचना का संकट, वह मानते है, केवल अकादेमिक मसला नहीं है। उसका संकट आधुनिक जीवन की जटिलता का ही स्वाभाविक परिणाम है। अपने परिवेश की सही पहचान से रचना जीवन्तता प्राप्त करती है। रचना की कथित स्वायत्तता का विरोध करते हुए वह उसे सामाजिक दबावों का परिणाम मानते हैं। आधुनिक रचनाशीलता पर लगाये गये विदेशी प्रभावों के आरोपों को काफी-कुछ बचकाना मानते हुए भी वह स्वीकार करते हैं कि इस बीच रचना का देसी व्यक्तित्व पूरी तरह उभरकर नहीं आ सका है। इसी सिलसिले में वह नये रचनाकार के लिए प्रकाशन के संकट की चर्चा भी करते हैं—इस उल्लेख के साथ कि अपने जीवन काल में मुक्तिबोध प्राय: पूरी तरह अनछपे ही रह गए। छठे दशक

मे शीतयुद्ध के दौर मे अज्ञय और परिमलवादियो द्वारा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर रचना की सामाजिक भूमिका के विरुद्ध जिहाद प्रारम्भ किया गया। इसी के उत्तर में प्रगतिवादी लेखकों की ओर से साहित्यकार की आस्था और रचना के सामाजिक दायित्व का सवाल उठाया गया। बालकृष्ण राव और अमृतराय के सयुक्त सम्पादन में, 'हंस' के अर्द्धवार्षिक संकलन में एक परिसंवाद ही आयोजित किया गया—साहित्यकार की आस्था—जिसमें पंत और महादेवी सहित प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण प्रगतिवादी आलोचकों के विचार संकलित किए गए थे। प्रेमशंकर इस संदर्भ में लेखक के सामाजिक दायित्व पर पर्याप्त बल देते हुए भी साधारण ब्यौरों में उसके उलझने को जरूरी नहीं मानते। अपने समर्थन में वह सॉमरसेट मॉम का एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—"महान साहित्यकार को इतना अवसर नही रहता कि वह वस्तुओं का विवरण प्रस्तुत करे···।" प्रेमशंकर रचनाकार की सामाजिक चेतना की कलात्मक अभिव्यक्ति पर जोर देते हैं। किसी भी तर्क से वह मौन अराजकता को बढ़ावा देने वाले साहित्य का विरोध करते है। इस पूरी बहस में उनका अपना निष्कर्ष है: "साहित्य के सामाजिक-सांस्कृतिक तत्त्व निस्संदेह उसकी सबसे बड़ी शक्ति हैं, पर इनकी परीक्षा बहुत समझ-बूझ कर करनी होगी। विशुद्ध शास्त्रीय अथवा सौन्दर्यवादी दृष्टि से साहित्य को परखकर उस पर अन्तिम निर्णय दे देना ठीक नहीं है। सामाजिकता का तो ध्यान रखना ही होगा, किन्तु सृजन-प्रक्रिया को दृष्टि-पथ में रखकर, क्योंकि यही साहित्य मे समाज के प्रकाशन का मेरुदंड है जो उसे अन्य रचना प्रकारों से अलगाता है" (वही, पृ० 35)।

प्रेमशंकर प्रेषणीयता के सवाल को भी अकादेमिक समस्या न मानकर जीवन-सन्दर्भों से जोड़कर देखते है। बृहत्तर सामाजिक संदर्भों से रचना का जुड़ाव और अपने सांस्कृतिक दायित्व की पूर्ति ही उसे सम्प्रेषणीय बनाते हैं। अपने अहं को गलाकर और वैशिष्ट्य के भ्रम से मुक्त होकर ही कोई रचनाकार इस दिशा मे आगे बढ़ सकता है। अहं का यह विलयन सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिबद्धता के अभाव में संदेहास्पद ही बना रहेगा। निराला की 'राम की शक्तिपूजा' का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए प्रेमशंकर निराला द्वारा प्रस्तुत कवि के समाजीकरण की ओर संकेत करते हैं जिसके कारण भाषा की प्रांजलता भी विशेष बाधा नहीं बनती। सृजन और समीक्षा के अन्तःसम्बन्धों पर विचार करते हुए प्रेमशंकर रचनाकार की तरह समीक्षक के लिए भी जीवन की सीधी और सक्रिय हिस्सेदारी को अनिवार्य समझते हैं। जीवन से यह सीधा सम्पर्क जिसे गेटे 'जीवन-सम्भोग' की संज्ञा देते हैं, एक आलोचक के लिए भी उतना ही अनिवार्य है जितना किसी रचनाकार के लिए। समीक्षक केवल साहित्य का समीक्षक ही नहीं होता। मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता की भूमिका पर विचार करते हुए उसे 'जीवन की आलोचना' कहा था।

आलोचक जब रचना को परखने को तत्पर होता है तो उससे यह अपेक्षा बहुत अस्वाभाविक नहीं मानी जानी चाहिए कि वह उस साहित्य के विशिष्ट रचनारूप के अतिरिक्त उसकी उस अन्तर्वस्तु की भी प्रामाणिक जानकारी रखता हो जिसे रचना में विन्यस्त किया गया है। इस दृष्टि से रचनाकार की तुलना में समीक्षक का दायित्व अधिक व्यापक है। इस संदर्भ में प्रेमशंकर की टिप्पणी है : "जब हम साहित्य-समीक्षा पर विचार करते हैं तो हमें यह ध्यान रखना होगा कि साहित्य जीवन-प्रसूत है और यदि हम समीक्षा के साथ न्याय करना चाहते है तो हमें उस पूरी तैयारी के साथ इस क्षेत्र में उतरना होगा जो स्वयं कृतिकार के लिए आवश्यक होती है···" (वही, पृ० 43)। दोनों का सीधे जीवन से ही अपनी खुराक जुटाना दोनों के बीच उस अन्तराल को भी दूर कर सकता है जो दुर्भाग्यवश रचना और आलोचना के बीच किसी न किसी रूप में हमेशा रहा है। आज जब कृतिकारो की समीक्षा—तीसरा साक्ष्य पर सृजनात्मक समीक्षा कहकर अतिरंजित रूप से बल दिया जा रहा है तब सृजनात्मक समीक्षा को लेकर प्रेमशंकर की यह टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है कि समीक्षक की बौद्धिक और मानसिक तैयारी ही उस सृजनात्मक समीक्षा का मूल उत्स है जो उसे रचना के अन्तःप्रवेश और सहयात्रा की सामर्थ्य देती है। आलोचक द्वारा रचना के आत्मीय साक्षात्कार से ही वह दीप्ति पैदा होती है जो रचना के अंधेरे और अस्पष्ट कोनों को उजागर करके उसे अपने ढंग से आलोकित करती है। प्रेमशंकर के अनुसार रचना को उसकी समग्रता में देखकर ही ऐसा कर पाना सम्भव है। चूँकि रचना की आधार-सामग्री स्वयं जीवन है, उसके मूल्यांकन के प्रतिमान भी बने-बनाये और शाश्वत न होकर उस जीवन से ही उभरकर आते हैं। हर सार्थक आलोचना अपना मुहावरा जीवन से ही लेती और गढ़ती है।

अपने इन निबन्धों में प्रेमशंकर आलोचना की प्रकृति और अपेक्षाओं का जायजा लेते हुए उसकी वर्तमान स्थिति पर भी संक्षेप में, टिप्पणी करते हैं। वह रचना की तरह आलोचना की भी सामाजिकता को अनिवार्य मानते हैं : "आलोचना शुद्ध साहित्य की पैरोकार नहीं बन सकती क्योंकि रचना सामाजिक दबावों से बनती-बिगड़ती है" (वही, पृ० 55)। आलोचना शास्त्रीय घेरेबंदी से बाहर आकर जीवन के खुले आकाश के नीचे ही अपने सामाजिक-संस्कृतिक दायित्व का निर्वाह कर सकती है। अच्छी और सार्थक समझी जाने वाली आलोचना रचना और पाठक के बीच सेतु का काम करती है। वह उसके आस्वाद का धरातल निर्मित करती है और रचना के लिए सही परिवेश बनाती है। ऐसी आलोचना, स्वाभाविक है, निषेध पर जीने-पनपने की प्रवृत्ति से मुक्त होगी। आलोचना की सामाजिकता का मतलब है—सामाजिक संदर्भों में ही रचना के सौंदर्य का परीक्षण-मूल्यांकन। रचना के विश्लेषण की प्रक्रिया में आलोचना तटस्थ न रहकर मूल्य-निर्णय की ओर बढ़ती

है और रचना पर अपनी स्पष्ट और बेलाग राय देती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जब शुक्लजी के विषय में टिप्पणी की थी कि हमें उनके निष्कर्षों पर 'हाँ' या 'ना' कहना ही होगा—हम बीच में खड़े नहीं रह सकते—तो वे वस्तुतः शुक्लजी की समीक्षा के इस विशेष गुण की ओर ही संकेत कर रहे थे। अनिर्णय और असमंजस अच्छी आलोचना के शत्रु हैं। ऐसी आलोचना अपने स्वरूप में बेमुरौवत होकर भी आत्मीय होती है।

समकालीन आलोचना का आशय स्पष्ट करते हुए प्रेमशंकर लिखते हैं : "समकालीन आलोचना का अर्थ यह नही है कि वह आज के समय में लिखी जा रही है, पर उसका यह अभिप्रेत भी होना चाहिए कि उसे समकालीनता की पहचान है" (पृ० 62)। समकालीनता के तत्त्व निरपेक्ष न होकर अपने समय के दबावों से निर्मित होते हैं। इसीलिए समकालीन आलोचना में पुनर्मूल्यांकन, पुनर्विचार, प्रासंगिकता की तलाश और पुनरावलोकन जैसी चेष्टाएँ पायी जाती हैं। ऐसी आलोचना रचना की सामाजिक जमीन पर खड़ी होती है और अपने समय के महत्त्वपूर्ण सवालों पर स्पष्ट टिप्पणी करती है। वह 'शुद्ध साहित्य' की पक्षधर नहीं होती जो रचना को सामाजिक संदर्भों से काटकर अपने संपूर्ण स्वायत्त स्वरूप की बात करता है। समकालीन आलोचना की प्रतिष्ठा में मुक्तिबोध की भूमिका ऐतिहासिक महत्त्व की है। यह आलोचना न तो किसी विशेष वर्ग को संबोधित होती है और न ही शास्त्रीय जड़ता में बँधकर अपने पांडित्य प्रदर्शन से आतंकित करती है। लीविस के शब्दों में ऐसी आलोचना एक सहयोगी प्रयास—'कामन परसूट' ही हो सकती है। आलोचना की समकालीनता के संदर्भ में, एक बार फिर प्रेमशंकर सार्थक आलोचना को ही सृजनात्मक आलोचना माने जाने पर बल देते है। रचना की तरह आलोचना के भी देसी चरित्र पर वह जोर देते है और उसके विकास की सभावनाओं में ही आलोचना की सार्थकता देखते हैं।

प्रेमशंकर आलोचना से अपने समय की समानान्तर यात्रा की अपेक्षा करते है और युगीन भाव-बोध के आधार पर ही आलोचना-प्रतिमानों के निर्माण पर बल देते हैं। सन्तुलन के नाम पर वह अतिरेकी और सीमाँती आलोचना से बचने का सुझाव देते हैं और स्वयं ऐसी ही कोशिश में वह ऐसी आलोचना लिखते हैं और सामान्यतः ऐसे मुद्दे उठाते हैं जो व्यर्थ के विवाद से बचकर चलना ही श्रेयस्कर समझती है। आलोचना के नवलेखन के मूल्यांकन में ही अपनी सार्थकता प्रमाणित करने की बात सिद्धान्ततः स्वीकार करते हुए भी वह स्वयं किसी विशेष लेखक या रचना के विश्लेषण—परीक्षण में रुचि नहीं दिखाते। अपने इन निबन्धो मे आलोचना के रूप में मुक्तिबोध का उल्लेख भी वह कदाचित् उनके प्राय. सर्वस्वीकार्य होने के कारण ही करते हैं। 'तारसप्तक' के नये सस्करण (1963) मे कवियों के संशोधित वक्तव्यों की चर्चा करते हुए वह मुक्तिबोध और कुछ अन्य

कवियों की चर्चा तो विस्तारपूर्वक करते हैं लेकिन रामविलास शर्मा के प्रसंग मे वह यह कहकर आगे बढ़ जाते हैं कि उनकी रचना-दृष्टि और विचार एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय हैं। साहित्य में आन्दोलनों, शिविरों और नारो को बहुत महत्त्व देना अच्छी बात नहीं है, खासतौर से जब तक इससे जेनुइन रचनाशीलता के प्रभावित और कुंठित होने की आशंका हो, लेकिन प्रेमशंकर इनके महत्त्व को कुछ ज्यादा ही कम करके देखते हैं। साहित्य और कला की दुनिया मे नये आन्दोलन सामान्यतः नयी संवेदनशीलता और परिवर्तित भाव-बोध के दबाव का ही परिणाम होते हैं। उनसे रचनाशीलता की नयी दिशाएँ खुलती हैं। हमारे अपने समय में छायावाद, प्रगतिवाद, नयी कविता और नयी कहानी आदि से सम्बन्धित आन्दोलन इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय माने जा सकते है। हिन्दी की प्रगतिवादी आलोचना में वह मुक्तिबोध पर अनेक प्रसंगों में किंचित् विस्तारपूर्वक लिखते हैं, अन्यों का उल्लेख करके रह जाते है। रामविलास शर्मा और नामवरसिंह की विवादास्पद समझी जाने वाली कितनी ही स्थापनाओ को लेकर वह उदासीन बने रहते हैं। प्रगतिवादी आलोचना में, आरम्भिक अतिरेक और उत्साह के बदले परवर्ती दौर में विकसित उदारता और कलात्मक संयम का वह स्वागत करते हैं और इस दृष्टि से पास्तोविस्की की 'द गोल्डन रोज़' का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं।

अपने इन निबन्धों में प्रेमशंकर एकाधिक प्रसंगों में आलोचना के संदर्भ मे पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न उठाते हैं। समय के दबावों के बीच विकसित और जीने वाली आलोचना साहित्य में महत्त्वपूर्ण कृतियों और कृतिकारों के पुनर्मूल्यांकन से बच नहीं सकती। कालजयी कृतियाँ प्रायः हर युग में नये सिरे से विवेचन और परीक्षण की माँग करती हैं। मुक्तिबोध की 'कामायनी : एक पुनर्विचार' और विजयदेवनारायण साही की 'जायसी' इस दृष्टि से हिन्दी आलोचना की उल्लेखनीय कृतियाँ मानी जा सकती हैं। पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया में आलोचक रचना को भली-भाँति आत्मसात करके ही अपने समय की टकराहटों से उसे तोड़ना चाहता है। लेकिन यह प्रक्रिया आलोचना कृति के संपूर्ण निषेध से बचकर ही सार्थक हो सकती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सन्दर्भ में नीलकान्त और मलयज के मूल्यांकन, जो पुनर्मूल्यांकन के ही उदाहरण हैं, इन दोनों प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। नीलकान्त मूर्तिभंजन के उत्साह में शुक्लजी की मान्यताओ और मूल आशयों को विकृत करने में भी संकोच नहीं करते जबकि मलयज अपने समय की टकराहटों के साथ शुक्लजी से भिड़ते हुए भी उनमें से सार्थक और महत्त्वपूर्ण को सोत्साह रेखांकित करते हैं। प्रेमशंकर पुनर्मूल्यांकन की इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं "जो लोग पुनर्मूल्यांकन को केवल मूर्त्तभंजन का कार्य समझते हैं, वे शायद उसके मूल आशय को नहीं जानना चाहते।" और

फिर थोड़ा आगे चलकर वह लिखते है पुनमू ल्याकन परम्परा की सच्ची पहचान के साथ-साथ संस्कृति के विवेक की प्रौढ़ता और समझ को भी बताता है" (पृ० 100)।

समकालीन सृजन और आलोचना में प्रेमशंकर का यह हस्तक्षेप बहुत उत्तेजक हस्तक्षेप का उदाहरण नहीं है। अतिरेकपूर्ण और सीमान्ती स्थापनाओं से बचकर, सन्तुलन के प्रयास में, वह सर्वस्वीकार्य तथ्यों पर ठहर जाते हैं। आलोचक और कवि रूपों में प्रेमशंकर वैसे किसी तनाव का साक्ष्य नहीं देते जिसकी उपस्थिति एक खास किस्म की चमक पैदा करती है। 'पहाड़ी पर बच्चा' में कविताओं की निरुद्वेग प्रकृति उनकी आलोचना में उस 'पैशन' से उन्हें मुक्त रखती है। रचना और रचनाकार के प्रति सारी हार्दिकता और आत्मीयता के बावजूद आलोचना, अपनी प्रकृति से ही एक जोखिमपूर्ण कार्यवाही है जिसमें दोटूक अभिमत आलोचना को धार देते हैं। रचनात्मक तनावों के बीच विकसित आलोचना ही गहरे पैशन के साथ अपने आलोच्य विषय पर प्रतिक्रिया करती है और विरोध में वैसी ही आवेगपूर्ण प्रतिक्रिया को उत्तेजित करती है। अपने समय की विशिष्ट रचना प्रवृत्तियों, कृतियों और कृतिकारों से सार्थक मुठभेड़ से ही ऐसी आलोचना अपनी खुराक पाती है। वही शायद समकालीन रचनाशीलता में सार्थक हस्तक्षेप का उदाहरण भी बनाती है।

सृजन और समीक्षा

नवल किशोर

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में व्यावसायिक पत्रकारिता के प्रवेश का परिणाम यह हुआ है कि सिद्धान्त-निर्वचन और विवेचन-विश्लेषण का स्थान बयानों और फिकरों ने लिया है। अब आलोचना असली साहित्य प्रेमी पाठकों को कम सम्बोधित होती है और एक तरह की 'खबर' देने का काम ही ज्यादा करती है—"जाहिर है कि इन पत्रिकाओं में साहित्य-चर्चा का रूप सनसनीखेज होगा।" वैसे इनमें नये-से-नये लेखकों और पुस्तकों की चर्चा सुलभ की जाती है, किन्तु यहाँ पुस्तकों और लेखकों का मूल्य 'खबर' का-सा है। यहाँ हर नई पुस्तक आज की ताजा खबर है और उसकी चर्चा छपते-छपते।" नामवरजी के उक्त शब्दों में कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है, लेकिन सचाई यही है कि बड़े अखबारों में आलोचक की जगह कालम-लेखक ने ले ली है और पुस्तकों के चुनाव में परिचयवाद प्रमुख आधार बनता जा रहा है। साहित्य-प्रेमी पाठक समुदाय दायित्वपूर्ण आलोचना के रसास्वाद के लिए पुनः अध्यापकों की ओर देखने लगा है। विश्वविद्यालयीन व्यवस्था पर तीखी टिप्पणियाँ की जाती हैं पर पत्रकारी और आलोचना का विकल्प भी अधिकांश में ऐसे लेखक ही प्रस्तुत कर रहे हैं जो अध्यापन से जुड़े हैं—हिन्दी के अतिरिक्त दूसरे विषयों के अध्यापक भी। इनके लिए आलोचना शुद्ध साहित्यिक वस्तु नहीं, सर्जनात्मक कर्म है। साहित्य-चिन्ता एक सार्थक सर्जनात्मक कर्म तभी हो सकती है जब वह उस समूचे सांस्कृतिक कर्म से जुड़ती है, जो मनुष्य के वर्तमान की पड़ताल उसकी विरासत को आगे बढ़ाने के लिए करता है। यहाँ आलोचना यथास्थिति को बदलने के लिए दी जाने वाली चुनौतियों का एक अंग बन जाती है। ऐसी आलोचना से जुड़े शिक्षक-लेखकों में एक महत्त्वपूर्ण नाम है, डॉ० प्रेमशंकर का।

प्रेमशंकर की नवीनतम आलोचना-पुस्तक है—'सृजन और समीक्षा'। यह पुस्तक आकार में केवल सौ पृष्ठों की है, लेकिन इसमें जिन प्रश्नों को उठाया गया है वे आज की साहित्य-चिन्ता के प्रमुख प्रश्नों में हैं। इसके प्रमाण मे इस

पुस्तक के निबन्धो का नामोल्लेख भर पर्याप्त होगा रचना की भारतीय अवधारणा, नयी रचना का संकट, साहित्य और सामाजिक दायित्व, प्रेषणीयता का प्रश्न, सृजन और समीक्षा, आलोचना की सामाजिकता, समकालीन आलोचना : कुछ प्रश्न आदि। स्वयं लेखक ने पुस्तक को पाठक के हाथों में सौंपते हुए कहा है—"सृजन और समीक्षा को लेकर कुछ प्रश्न मुझमें उठते रहे हैं, इच्छा थी कि इन्हें किंचित् विस्तार देकर पूर्णता पर पहुँचाऊँ, पर जीवन की उलझनों में ऐसा न हो सका और ये अधूरे विचार आपके सामने हैं।" इस कथन को लेखकीय विनम्रता के रूप में ही लिया जाना चाहिए क्योंकि जो प्रश्न प्रेमशंकर ने उठाये हैं क्या उनके पूर्ण उत्तर कभी भी दिए जा सकेंगे ? जो भी और जब भी उत्तर दिए जाएँगे क्या वे अधूरे ही सिद्ध नहीं होंगे। पुस्तक में दिए गए उत्तर जहाँ-तहाँ विस्तार तथा स्पष्टीकरण की माँग जरूर करते हैं, लेकिन अधूरे इसलिए नही हैं कि वे लेखक के पक्ष को दृढ़ता से रखते हैं।

भारतीयता की पहचान का सवाल सिर्फ हिन्दी आलोचना तक सीमित नही है। आज के हर भारतीय लेखक को अपने लेखन की अस्मिता की तलाश में इस सवाल का सामना भी करना होता है, जो अपनी भाषायी सीमा को अतिक्रान्त करते हुए समानधर्माओं के वृहत्तर संसार में जीना चाहता है। इस सवाल के जवाब में लेखक ने पहले भारतीय रचनाशीलता की बदलती अवधारणा को समझना चाहा है : "प्राचीन भारत की रचनाशीलता में 'अनेकता में एकता' का सूत्र धर्म-दृष्टि में निहित है, मध्यकाल में उसका आधार समन्वयशील भक्ति-चेतना है और आधुनिक काल में नवजागरण से नयी भारतीयता का उदय होता है, जिसका प्रसार राममोहन राय से गांधी तक है और जिसके सर्वोत्तम प्रतिनिधि है रवीन्द्र। स्वतन्त्रता आन्दोलन में किसानों-मजदूरों की साझेदारी बढ़ती है और यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ ज़ोर पकड़ती हैं, जिसे सशक्त अभिव्यक्ति प्रेमचन्द ने दी। तीसरे-चौथे दशक से मार्क्सवादी चिन्तन का प्रभाव परिलक्षित होने लगता है। आज़ादी के बाद सत्ता-केन्द्रित राजनीति के बढ़ते दबाव में जातिवाद, सम्प्रदाय-वाद, भाषावाद और क्षेत्रीयतावाद जैसी संकुचित मनोवृत्तियाँ जन्म लेती हैं और भारतीयता की अवधारणा खण्डित होने लगती है।"

भारतीय रचनाकार लगभग एकमत हैं कि समाज के पुनर्निर्माण में रचना की भूमिका होनी चाहिए, लेकिन स्वतन्त्रता-पूर्व जैसी एक सांस्कृतिक अव-धारणा का संबल हमारे पास नहीं रहा है—"भारत में भी शीतयुद्ध का एक दौर आया जब प्रगतिवादी तथा गैर-प्रगतिवादी शिविरों में वैचारिक संघर्ष हुआ। आज स्थिति यह है कि वामपंथी दलों के विभाजन ने दृश्य को और धुंधला कर दिया है।" प्रेमशंकर के इस विश्लेषण से असहमति की गुंजाइश कम ही है। आज साम्यवादी क्रान्ति के सपने देखने वाली प्राचीन विचारधारा अप्रासंगिक हो गई है,

इसलिए सामाजिक बदलाव से प्रेरित समाजवादी चिन्तन का नयी दिशा की खोज करनी होगी और प्रगतिशीलता एवं जनवादिता को भी नये सन्दर्भ देने होंगे। ऐसी परिभाषा तलाशनी होगी जो भारतीय लेखक को एक सूत्र में बाँध सके। यह लेख लिखते समय प्रेमशंकर के सामने नयी राजनीतिक स्थिति तो नहीं है, किन्तु उन्होंने जिस सांस्कृतिक प्रयास का आग्रह किया है वह इस बदले परिदृश्य में और भी अपरिहार्य बन जाता है—"यदि रचना की भारतीय अवधारणा सही ढंग से बनानी है तो हमें अपने रिक्थ का सर्वोत्तम उपयोग करना होगा। इतिहास के लम्बे क्रम से हमारी सही जानकारी होनी चाहिए और सबसे बड़ी बात यह कि भाषा की विभिन्न इकाइयों में सम्वाद की प्रक्रिया को गति देनी होगी।" इसलिए वे आग्रह करते हैं कि भाषा के प्रश्न को राजनीति में नहीं उलझाया जाए।

प्रेमशंकर देश के बहुभाषायी साहित्य के बीच एकता का सेतु आज उनकी समान-सी जनोन्मुखता को ही मानते हैं। वे साहित्य को एक विशुद्ध कलात्मक अध्यवसाय नहीं मानते—उसे एक समग्र सांस्कृतिक प्रक्रिया के अंग के रूप मे देखते हैं और जनोन्मुखता को रचनाशीलता का अनिवार्य धर्म स्वीकार करते हैं: "हर युग कुछ ऐसे प्रश्नों को लेकर रचनाकार के सामने उपस्थित होता है जिसके बारे में पिछली पीढ़ी के लोगों ने नहीं सोचा था। मसलन रामायण और महाभारत दो महाकाव्य नहीं हैं जिन्हें किसी ने रचकर हमारे सामने रख दिया था, वरन् वे दो पृथक् युगों की जीवन-दृष्टियों का प्रतिनिधित्व भी करते है···। जाहिर है यदि रचना अपने पाठकों के लिए ग्राह्य होना चाहती है और अपने समय की एक जीवन्त तस्वीर बनने का हौसला भी रखती है तो उसे सामयिक परिवेश की सही पहचान करनी होगी।" यह प्रश्न रचना के प्रयोजन की सही पहचान से जुड़ा हुआ है—"इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज की रचना के सामने संकटों की तादाद तो अधिक है ही, उनका स्वरूप भी जटिल है। पर यह भी सच है कि जो रचनाकार जितने बड़े खतरे उठाता है, इतिहास में उसके हस्ताक्षर भी उतने ही जानदार होते हैं।" यह ठीक है कि साहित्यकार अपने समाज का जो अंकन करता है, वह इतिहास-सिद्ध होता है, किन्तु महान लेखकों में वह असाधारण प्रतिभा होती है जिसके सहारे वे अपने युग के सामाजिक यथार्थ को 'सार्वभौमिक' और 'चिरन्तन' रूप देते हैं—उनकी चेतना नारों के पीछे नहीं चलती। इस प्रकार प्रेमशंकर साहित्य को यान्त्रिक ढंग से जनवादी/प्रतिक्रियावादी खेमों में बाँटने के प्रति हमें पहले से सावधान करते आ रहे हैं। वे लोकप्रियता को साहित्य की महत्ता का एक अनिवार्य उपलक्षण नहीं स्वीकार करते—"यह सही है कि असाधारणता और वैशिष्ट्य को सहजता के बिन्दु पर लाए बिना प्रेषणीयता का प्रश्न हल नहीं किया जा सकता, किन्तु सहजता केवल 'कहने की कला' का नाम नहीं है, वह जीवन से जुड़ने, रचना के सांस्कृतिक दायित्व को निभाने की कला है।"

प्रेमशंकर समीक्षक को एक सर्जक की भूमिका मे रखते हुए मुक्तिबोध के तीन कविता-क्षणो के समानान्तर तीन समीक्षा-क्षणो की कल्पना करते है—पहला क्षण कृति में प्रवेश का है, दूसरा कृति को अधिगत किए जाने के संघर्ष का है और तीसरा ठीक-ठाक मुहावरे को तलाशती अभिव्यक्ति का है। उनके मतानुसार समीक्षा और सृजन को अलग-अलग क्षेत्रों में बाँटकर देखने से दोनों का अहित ही हुआ है। सृजन और समीक्षा के बीच एक समानान्तर रचना-प्रक्रिया की तलाश ने प्रेमशंकर के शिक्षक को तथाकथित नये वैज्ञानिक आलोचनाशास्त्रों के व्यामोह मे नही पड़ने दिया है और सर्जकों के संसार में निर्बाध भ्रमण के लिए प्रेरित किया है। इस भ्रमण के नतीजे में ही उन्होंने समकालीन लेखन को बखूबी सराहा है और उसकी सीमाओं का स्पष्ट निर्देश भी किया है। वे यह मानकर चलते है कि कृति की मुख्य प्रेरणाभूमि उसका वर्तमान समय है और समीक्षा को अगर कोई महत्त्व पाना है तो उसे उन वैचारिक आन्दोलनों का सहगामी बनना होगा, जो रचनाकार को प्रभावित करते हैं—"रचना की तरह समीक्षा को भी जीवन से सीधे-सीधे सम्वाद करने की आदत डालनी होगी और जीवन भी आजाद हिन्दुस्तान का, जिसके असंख्य सपने चौखट पर सिर पटक रहे हैं।"

इस प्रकार 'सृजन और समीक्षा' आज की आलोचना के सम्मुख उपस्थित अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों से हमारा साक्षात्कार कराती है और कई मुद्दों को बहस के लिए पेश करती है। प्रेमशंकर के उत्तर हमें अधूरे लग सकते है, उनसे हम असहमत भी हो सकते हैं, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे हमारे सोच को एक दिशा देते हैं—ऐसी दिशा जिस ओर बढ़ने पर ही साहित्य-चिन्ता सार्थक हो सकती है। प्रेमशंकर कवि भी हैं और उनके विचारो को समाहार रूप में उनकी कविता से शब्द लेकर प्रस्तुत किया जा सकता है—

> देखो, हर खुली जगह कविता है
> जैसे सूर्य की किरणें, चन्द्रमा की चाँदनी
> वर्षा की धार, लहराता समुद्र
> खिलखिलाती नदी, ललकारते पहाड़
> और तूफ़ान के पहले का सन्नाटा।
> अंगरू-मंगरू के लिए साँझ की सूखी रोटी
> सबसे बड़ी कविता है
> हथेली पर उग आया हो जैसे
> पूरनमासी का चाँद,
> चुल्लू से पानी पीते, मानो अमृत का आचमन हो।

शब्द की अर्थसत्ता

गोपाल राय

प्रेमशंकर ने अपने साहित्यिक जीवन की शुरूआत कविता लेखन से की थी, पर अध्यापन वृत्ति ने उन्हें आलोचना से जोड़ दिया । आलोचना आगे आ गयी और कविता पीछे छूट गयी । यह इसी से जाना जा सकता है कि उनकी अब तक प्रकाशित आलोचना पुस्तकों की संख्या लगभग पन्द्रह है जबकि कविता-संकलन मात्र एक है 'पहाड़ी पर बच्चा ।' प्रेमशंकर की कविताओं से गुजरते हुए किसी को भी लग सकता है कि यदि उन्होंने यह राह न छोड़ी होती तो वे हिन्दी के गिने-चुने कवियो मे होते । प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने काव्य रचना के लिए प्रतिभा और व्युत्पत्ति के साथ-साथ अभ्यास को भी आवश्यक माना है । प्रेमशंकर में काव्य-प्रतिभा और व्युत्पत्ति का अभाव नहीं है, पर उन्होंने अभ्यास की उपेक्षा की । आज प्रेमशंकर आलोचक के रूप में ही जाने जाते हैं, कवि रूप में अधिक नहीं । पर कविता के प्रति उनके मन का रुझान समाप्त नहीं हुआ है । 'पहाड़ी पर बच्चा' इसका परिचायक है ।

प्रेमशंकर के कवि-मानस ने उनकी आलोचना को कितना समृद्ध बनाया है, इसका विश्लेषण प्रस्तुत निबन्ध का लक्ष्य नहीं । हम यह दिखाने का प्रयास कर रहे हैं कि उनकी कविता कितनी सुरक्षित रह गयी है । कविता की श्रेष्ठता को नापने की कसौटी क्या हो, इस सम्बन्ध में आलोचक इतना लिख चुके हैं, कि अब नया कहने के लिए अधिक बचा नहीं । पुराने आचार्यों के अनुसार काव्य-प्रतिभा शब्दो के समूह को, अर्थों के समुदाय को, अलंकारों और सुन्दर उक्तियों को तथा अन्यान्य काव्य सामग्री को हृदय के भीतर प्रतिभासित करती है । व्युत्पत्ति और अभ्यास इसे मूर्त करते हैं तथा और भी चमका देते हैं ।

प्रेमशंकर के कविता-संकलन 'पहाड़ी पर बच्चा' में घोषणा और 'मध्यान्तर' शीर्षक से क्रमशः सोलह और अठारह कविताएँ संकलित हैं । कविता-संकलन का शीर्षक पुस्तक की एक कविता 'पहाड़ी पर बच्चा' से लिया गया है । खण्डो के शीर्षक भी उनमें संकलित कविताओं के आधार पर ही रखे गये हैं । 'पहाड़ी पर

बच्चा' का बिम्ब कई प्रकार के अर्थ दे सकता है। हमारे शिक्षा संस्थानों के साथ वह मनुष्य की असहायता का भी अर्थ दे सकता है और उसकी विजय का भी। पर 'पहाड़ी पर बच्चा' कविता का बिम्ब उतना साफ नहीं है। इसे समझने के लिए काफी जोर लगाना पड़ता है। यदि बच्चा एक आम विवश हिन्दुस्तानी नागरिक का प्रतीक है तो कविता का पूरा बिम्ब यह अर्थ देता है कि वह कितना निराश, अकेला और अर्थहीन है। अपने चारो ओर व्याप्त मूल्यहीनता और उपेक्षा तथा अकेलेपन के बोध से एक आम हिन्दुस्तानी पहाड़ी पर गये असहाय शिशु की तरह ही ग्रस्त है। यदि हमारा यह अर्थ-बोध सही है तो कविता-संकलन के शीर्षक को भी अर्थ मिल जाता है क्योंकि प्रेमशंकर की कविता का मूल स्वर भारतीय जीवन में व्याप्त असंगतियों पर प्रतिक्रिया का है। संकलन की पहली ही कविता मे वे कहते हैं :

आस-पास पसरी है कविता, हरी दूब की तरह :
जुम्मन मियाँ की धनुही होती पीठ
हाथ न पीले कर पाने के दर्द में
रक्तहीन होता बाप
बड़े भाई से छोटे का सवाल
नौकरी कब मिलेगी दादा ?

इस कविता का कवि पहाड़ी पर के बच्चे की तरह ही एक थका-हारा बच्चा है, पर ज़िन्दगी उसके लिए बिलकुल बेमानी नहीं हुई है। वह जानता है कि 'कविता नहीं है प्रश्नों का पूरा उत्तर' पर कविता उसके लिए कोई शगल नहीं है, वह ज़िन्दगी का ही दूसरा नाम है :

देखो, हर खुली जगह कविता है
जैसे सूर्य की किरणें, चन्द्रमा की चाँदनी
वर्षा की धार, लहराता समुद्र
खिलखिलाती नदी, ललकारते पहाड़
और तूफान के पहले का सन्नाटा।
अंगरू-मंगरू के लिए साँझ की सूखी रोटी
सबसे बड़ी कविता है
हथेली पर उग आया हो जैसे
पूरनमासी का चाँद,
चुल्लू से पानी पीते, मानो अमृत का आचमन हो।

फिर तो कवि को मानो जीवन और कविता का पूरा अर्थ ही मिल जाता है। वह आज़ादी की रजत-जयन्ती के माहौल में देश के भीतर फैले अँधेरे को "बाहरी रोशनी से झुठलाने की कोशिश में इमारतों पर झूलते रंगीन बल्बों" को देखता है

और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है :

पानी तो बहुत बरसा
पर सब नदी-नालों में बह गया
धरती प्यासी की प्यासी है
समन्दर और रईस हो गया
रेगिस्तान की ग़रीबी कुछ बढ़ गयी है।

(फ़िरदौसी)

कवि जातिवाद, सम्प्रदायवाद, फिरकावाद, भाषावाद आदि के कारण देश के नक्शे को टुकड़े-टुकड़े होते देखकर उदास और व्यथित है :

नक्शे पर काँपती हुई दिल्ली
लोग कुतुबमीनार की एक-एक मंज़िल
आपस में बाँट लेना चाहते हैं
संसद भवन के खंभों का क्या होगा ?

पर कवि पूरी तरह निराश नहीं है और उसे विश्वास है कि नयी पीढ़ी देश को बिखरने से बचाएगी : उस मासूम ने इस बीच/बिखरे हुए टुकड़ों को उठाया/और तब से वह लगातार/इन्हें जोड़ने की कोशिश में है।

संकलन के प्रथम खण्ड की कविताओं को 'घोषणा' शीर्षक दिया गया है। इस शीर्षक से एक कविता भी पुस्तक में संकलित है। प्रशासन की तरफ से घोषणा की जाती है कि नये महाराज के आगमन पर भिखारी नगर से बाहर कर दिये जायें, टूटी-फूटी झोंपड़ियाँ रंग-रोगन से सजा दी जायें, सड़कों पर कहीं हड्डियों का कोई ढाँचा न दिखायी दे; क्योंकि राजा को गरीबी और भुखमरी से बेहद नफरत है। कवियों से कहा जाता है कि वे महाराज की अगवानी में नये छन्द रचें, नये नारे जोड़ें। जनता से कहा जाता है कि वह राजा की अगवानी में फूल लेकर रास्ते के दोनों ओर खड़ी हो जाये। मजदूरों से कहा जाता है कि वे वन्दनवार सजायें। बुजुर्गों को ताकीद की जाती है कि वे राजा को असीसें। कहना न होगा कि इस घोषणा में आज की एक राजनीतिक सच्चाई का नग्न और तल्ख रूप प्रस्तुत हुआ है। अन्तिम पंक्तियों का व्यंग्य तो बहुत ही बेधक और मार्मिक है। इसी प्रकार 'मत्स्य-बेध' शीर्षक कविता में रामराज्य की खोखली घोषणा पर व्यंग्य किया गया है। 'अन्तहीन यात्रा' में ठेके पर आयोजित राजनीतिक रैलियों पर व्यंग्य और टिप्पणी की गयी है। 'बापू की याद में' शीर्षक कविता में आज की राजनीतिक मूल्यहीनता और विसंगतियों का पर्दाफाश किया गया : न्यूयार्क से टक्कर लेती दिल्ली, आकाश छूती बम्बई की अलकापुरी। 'घोषणा' खण्ड में दो कविताएँ विश्व के दो प्रसिद्ध कवियों पर और चार कविताएँ प्रकृति पर हैं। कवियों में एक हिन्दी कवि निराला और दूसरे फ़ारसी कवि फ़िरदौसी हैं। कवि ने

नका चुनाव एक विशेष दृष्टि से किया है। ये दोनो स्वाभिमान के प्रतीक हैं। वे राजसत्ता के सामने नही झुके और सत्ता ने उन्हें कुचलने का प्रयत्न किया। दोनों के महत्व को उनकी मृत्यु के बाद स्वीकारा गया। प्रेमशंकर इन्हें कवि के लिए आदर्श मानते हैं। निराला के प्रति कवि के उद्‌गार हैं :

भावी के मेरे प्रतिभा स्वर,
नंगी-भूखी आत्माओं को
मन की देहरी से चिपटाया
सबको अक्षम ममता दे दी
सबकी असह्य पीड़ा पी ली
मुझको तो लगता है जैसे
तुमने सारा युग ओढ़ लिया।

प्रकृति-सम्बन्धी कविताएँ संकलन में दस हैं : वसन्त, नैनीताल की शाम, बादल और चाँद, निर्झर चला गया, मध्यान्तर, हिमपात, पीपल के पीत पात, ऋतु-वृत्त और स्मृति। पर इन कविताओं में प्राकृतिक सौन्दर्य का मनोहारी बिम्ब प्रस्तुत करना कवि का उतना लक्ष्य नहीं है जितना प्रकृति को आलम्बन बनाकर जीवन की विभिन्न स्थितियों पर टिप्पणी करना। वसन्त मनुष्य की जिजीविषा और दृढता का प्रतीक है :

हर बार जाते-जाते कह जाता है :
देखो, मैं हर डाल को दे गया हरियाली
मैं उन्हीं में जिन्दा हूँ, जरा-मरण से परे
इतिहास में मेरा अनाम हस्ताक्षर है।
तुम मुझे जीवित रहने से रोक नहीं सकते
नये-नये रूपों में हर-बार आऊँगा
सुगन्ध बरसाऊँगा।
मैं जिन्दा हूँ सृष्टि में फैली
अपनी नयी-नयी सन्तानों में
जिनकी आँखों में कल के सपने हैं
मैं वसन्त हूँ, मरूंगा नहीं।

नैनीताल की सुहानी शाम में कवि केवल चहलपहल और रागरंग ही नहीं देखता, उस कुली की आवाज भी सुनता है जो कहता है कि 'शाम की तस्वीर मैं भी हूँ, मुझे मत भूल जाना।' 'बादल और चाँद' में प्रकाश और अन्धकार का संघर्ष दिखाई देता है :

पर अपने प्रकाश में आश्वस्त चाँद
हर कालिख हटाकर बाहर आ जाता है

फिर उसी मस्ती से पसर जाता है,
खेत खलिहान में
सबको आलोक बाँटते हुए।

'निर्झर चला गया' कविता के बहाने कवि यह कहना चाहता है कि जीवन की सार्थकता, संसार को सुख बांटने के क्रम में, अपने को लुटा देने में ही है। वह जिन्दगी ही क्या जो स्वयं तक सीमित रह जाए, निरन्तर मृत्यु-बोध की पीड़ा से ग्रस्त रहे। निर्झर अपनी सार्थकता इसमें मानता है कि "पास से गुजरते हुए चरवाहे/मेरे संगीत से सीखते थे वंशी बजाना/मैंने अबोलों को दिये शब्द/आँखों मे जन्माये स्वप्न/और देखो, मेरे साथ गाती है पूरी वनखंडी।" फिर तो अपने गुम हो जाने में भी निर्झर को अपनी सार्थकता ही दिखाई देती है :

निर्झर सिर्फ गायब हो गया है, मरा नहीं है,
वह जीवित है :
पास की बोलती चट्टानों में
वनखंडी के फैलाव में
धरती की सिहरन और
चरवाहों की लोकधुन में।

इस प्रकार अपनी प्रकृति-कविताओं में भी प्रेमशंकर मनुष्य की विभिन्न मन. स्थितियों को प्रस्तुत करते हैं। प्रकृति उनके लिए आँखों को सुख देने वाली वस्तु मात्र नहीं है, वरन् जीवन से एकाकार हो गयी है।

'घोषणा' शीर्षक खंड में संकलित कविताओं में कवि की मनुष्य और समाज के प्रति प्रतिबद्धता बहुत स्पष्ट है। कदाचित् वह अपनी इस प्रतिबद्धता की ही घोषणा करता है। गांधीजी के नाम पर किये जा रहे आज के राजनीतिक पाखण्ड से कवि क्षुब्ध है। वह इस स्थिति पर व्यंग्य करता है :

या फिर अपने पाप का प्रायश्चित
दुनिया भर में एलान कि
हम नहीं हैं कृतघ्न सन्तान
जानते है करना राष्ट्रपिता का श्राद्ध
पूरे सम्मान के साथ
हम तर्पण में कृपण होना नहीं चाहते

देश की वर्तमान स्थिति पर व्यंग्य प्रेमशंकर की कविता की सबसे बड़ी पहचान है। इस व्यंग्य के साथ पीड़ा और आक्रोश के मिल जाने से कविताएँ और भी धारदार हो गयी हैं। कविताएँ अपनी पूरी संरचना में कवि की 'घोषणा' को मूर्तमान करती जान पड़ती हैं।

कविता-संग्रह के दूसरे खण्ड 'मध्यान्तर' के शीर्षक का औचित्य मेरी समझ मे

नहीं आया घोषणा' और मध्यान्तर' से एक अर्थ यह निकल सकता था कि .दलाव या क्रान्ति की घोषणा हो चुकी है, अभी मध्यान्तर है। पर यह तो एक .ाठक की अटकलबाजी है। कवि ने न जाने क्यों अपने अभिप्रेत को गोप्य ही रखने का इरादा किया है। 'मध्यान्तर' शीर्षक कविता तो इन सब बातों की ओर इशारा नहीं करती। एक अवसाद या उदासी का भाव कविता से जरूर झलकता है, पर मन पर गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। सम्बन्ध, उल्कापात, अरसे बाद, अभिनय, .कीरें, पर्तें, पीपल के पीत पात, आदि कविताएँ सामान्य हैं पर विदा, ऋतु-वृत्त, स्मृति, हँसी, परछाइयाँ आदि कविताएँ असर डालती हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रेमशंकर एक संवेदनशील व्यक्ति तो हैं, पर उनकी संवेदनशीलता कविता में पूरी अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त कर सकी है। कवि के रूप में प्रेमशंकर पर टिप्पणी करने का अधिक लाभ नहीं है, क्योंकि उनका मुख्य कर्मक्षेत्र आलोचना है। उनका कवि-मानस उनकी आलोचना को समृद्ध और संवेदनशील बनाता रहा है, यह बात बेखटके कही जा सकती है। प्रेमशंकर की कविताएँ उनके संवेदनशील मन की प्रतिक्रियाएँ हैं, जो आलोचना और अध्यापन से छलक कर कविता के रूप में आ गयी हैं। इनसे प्रेमशंकर के व्यक्तित्व को समझा जा सकता है।

संवेदन की ईमानदारी

वीरेन्द्र मोहन

'पहाड़ी पर बच्चा' प्रेमशंकर की कविताओं का पहला संकलन है। प्रेमशंकर न तो नये कवि हैं और न अपरिचित। नई कविता आन्दोलन के समय से वे कविताएँ लिखते आ रहे हैं। तमाम आन्दोलनों के दरम्यान उनका कविता लिखना बन्द नहीं हुआ, पर उनकी कविता तात्कालिक आन्दोलनों के फेर से बची रही। इसका कारण यह हो सकता है कि प्रेमशंकर कविता में तात्कालिक समाधान नहीं खोजना चाहते। हर विकट और खूबसूरत मौसम के साथ अगर कवि बार-बार कविता के पास आता है तो इसका कारण यही है कि वह शब्द की ताकतवर सत्ता को स्वीकार करता है। शब्द की इस अर्थसत्ता की खोज ही उसे कवि-कर्म के लिए प्रेरित करती है।

प्रेमशंकर की कविता अभिधात्मक होने के साथ बिम्बों और प्रतीकों की सत्ता को स्वीकार करती है। एक ही प्रतीक अलग-अलग कविताओं में भिन्न-भिन्न अर्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका कारण यह है कि यहाँ प्रत्येक कविता का वस्तु-सन्दर्भ भिन्न है। वस्तु में 'कन्ट्रास्ट' पैदा करने के लिए परस्पर विरोधी अर्थ प्रकट करने वाले बिम्ब और प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं। इस दृष्टि से कविताओं की विविधता का महत्त्व है। इसी कारण प्रत्येक कविता एक नया अर्थ-संसार रचती है। अलग-अलग कविताओं में फैले इस अर्थ-संसार की स्वायत्तता को मानते हुए उसके सामूहिक जीवन-सम्पृक्त कविता-संसार को भी कवि स्वीकार करता है। इस प्रक्रिया में उसका आलोचक व्यक्तित्व भी बीच-बीच में झाँक जाता है। यह सामूहिक और सम्पृक्त संसार कवि की दृष्टि में बिलकुल साफ है। कवि की सामाजिक-आर्थिक चेतना इतनी सजग है कि वह प्रश्नों के कारण तलाशता हुआ राजनीतिक हलकों में पहुँच जाता है। संसदीय प्रजातन्त्र में राजनीति महत्त्वपूर्ण नियामक और कर्तृत्व शक्ति होती है। पर राजनीतिक हलकों के प्रति कवि निराशा व्यक्त करता है। वह देखता है कि राजनीति का चरित्र लगातार समझौतावादी हुआ है। वह इस घालमेल से क्षुब्ध है। प्रेमशंकर की कविताएँ न

तो राजनीति से शू्य हैं और न ही कवि राजनीतिक शून्य का पक्षधर है अलबत्ता कवि सामाजिक चिन्ताओं, आर्थिक और विचारधारात्मक संघर्ष के जिन बुनियादी मुद्दों के प्रति अपने को समर्पित और प्रतिबद्ध करता है, उन्हें मानववादी विचार-धारा के सूत्रों से समझा जा सकता है। सात के दशक के बाद हिन्दी कविता में परिवर्तन के जो लक्षण उभरे, वे प्रेमशंकर की कविता में भी खोजे जा सकते हैं। इस बिन्दु पर प्रेमशंकर की कविताएँ एक सजग राजनैतिक विवेक से लैस हैं। आर्थिक-सामाजिक सवाल तो मार्क्सवादी शब्दावली में व्यक्त हुए हैं। इसलिए इस कविता का सौन्दर्यबोधात्मक स्वरूप भी कई स्तरों औरपर्तोंवाला है। यह सौन्दर्य-बोधात्मक स्वरूप सृजनात्मक सौन्दर्यबोध की रक्षा करता है। संकलन की कवि-ताएँ दो खण्डों में हैं : घोषणा और मध्यान्तर। मध्यान्तर खण्ड की कविताओं मे सौन्दर्यबोध का एक भिन्न रूप मिलता है। इससे कविता की रचना-प्रक्रिया, उसके विकास सूत्रों तथा सम्भावनाओं का पता चलता है। कवि अपनी रचना-प्रक्रिया के दौरान यह प्रकट नहीं होने देता, पर पता चलता है कि कविता का विकास सर्पिल रेखा की तरह हुआ है और इसका संसार व्यापक है।

गम्भीर और कलात्मक सृजन के बीच उत्तेजक स्वर भी इन कविताओ मे मिलता है, जिसका आशय इतना स्पष्ट और दो टूक है कि यह सामाजिक प्रति-बद्धता का आवश्यक हिस्सा बन गया है। जैसे : 'खेत की मेंड़ पर बेफिकर गाढ़ी नीद/जैसे जन्मे हों निश्चिन्तता लेकर' (कविता-संसार) या 'मजहब की आड़ मे छेडा गया/हर जिहाद धोखा है' (फ़िरदोसी) या 'दुनिया में दो ही कौमें हैं/खून चूसने वाली जोंक या हम' (फ़िरदोसी) या 'भूखा पेट बेफिकर हो जाता है' (अन्त-हीन यात्रा) आदि। इन अंशों से कवि-व्यक्तित्व का पता चलता है। प्रेमशंकर के लिए कविता विराट भौतिक प्रकृति के साथ सामाजिक संघर्ष और संघर्षरत मनुष्य के जीवन में है। इसीलिए कविता सर्वत्र है : 'देखो, हर खुली जगह कविता है।'

फ़िरदौसी, नक्शे के टुकड़े, अंगूठाछाप, अन्तहीन यात्रा कविताओं में तथा घोषणा खण्ड की अनेक दूसरी कविताओं में आज़ादी के बाद की स्थितियों में आये परिवर्तन को समेटने और विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। पता चलता है कि लगातार गैरबराबरी के बढ़ते, विसंगतियाँ बढ़ी हैं। देश को विघटित करने वाले कारक लगातार सिर उठाते गये हैं। व्यक्तिवादी चिन्तन, जीवन पद्धति और उसके विकृत मूल्यों पर कवि ने बार-बार वार किया है। प्रकारान्तर से व्यवस्था मे आये विकारों को वह तेज स्वर में कहता है और उम्मीद करता है कि नई पीढ़ इनके खिलाफ संघर्ष करेगी। 'फ़िरदौसी' कविता में कलात्मक और सांस्कृतिव सृजनकर्ता को अपने केन्द्र में लेकर तथा 'नक्शे के टुकड़े' में फटे नक्शे को प्रतीव बनाकर अप्रस्तुत कथन के द्वारा वर्तमान स्थितियों की विकरालता को व्यक्त किय

गया है। इस विकरालता में न केवल आर्थिक-राजनैतिक वरन् सामाजिक-सांस्कृतिक संकट, अवमूल्यन और प्रदूषण शामिल हैं। ऐसे में मनुष्य की सहन-शक्ति का जवाब दे जाना सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से संगत है। प्रेमशंकर की पक्षधरता इसी मनुष्य के प्रति है। वह मनुष्य भले ही अंगूठाछाप हो पर उसने साफ देखा है कि : बरस पर बरस बीतते गये/हमारी झोंपड़ियों के तिनके कम होते गये/हड्डियों का ढांचा और साफ दिखाई देने लगा/खेत की मेंड़ पर खून के छींटे गहरे होते गये (अंगूठाछाप)। तभी पता चलता है कि 'दबा हुआ ज्वालामुखी कितना खूँख्वार होता है/दर्द की आग कितनी खतरनाक हो सकती है।' कवि मरणोन्मुख संस्कृति के खिलाफ है। वह हर जगह नये जीवन के साथ मौजूद मिलता है : "मैं जिन्दा हूँ सृष्टि में फैली/अपनी नयी-नयी सन्तानों में/जिनकी आँखो में कल के सपने हैं/मैं वसन्त हूँ मरूंगा नहीं" (वसन्त)। यह तथ्य 'घोषणा' तथा अन्य अनेक कविताओं का मूल राग है जहाँ कवि ने व्यंग्य की ऊर्जा से अपनी क्षमता को सम्पन्न किया है।

'पहाड़ी पर बच्चा' कविता मंदिर, देवता, प्रार्थना आदि प्रतीकों के द्वारा आज के शिक्षा-संस्थान का एक बिम्ब निर्मित करती है। पर यह बिम्ब अपनी दुनिया में व्यापक चिन्ताओं से जुड़कर आज की विषम सामाजिक-आर्थिक स्थितियो पर सीधे उंगली उठाता है : हर बार बच्चा किसी छूंछे अमृतकुंड के पास जाता है/और खाली हाथ लौट आता है। ये सवाल अन्य कविताओं में भी हैं। ये व्यवस्था से जुड़े सवाल हैं। जाहिर है आज का कोई भी सजग कवि मौजूदा व्यवस्था का पक्ष-धर नहीं हो सकता। प्रेमशंकर भी व्यवस्था-विरोध के कवि हैं। ऐसे में 'अँगूठा-छाप' एक व्यंग्य है, एक त्रासदी है।

'मध्यान्तर भाग' में प्रेम-सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दर्य की कविताएँ अधिक है। इस प्रकार की कविताएं आस्वाद का धरातल तो बदलती ही हैं, एक ताजगी और ऊष्मा भी पैदा करती हैं, जिसकी कमी समकालीन हिन्दी कविता में अखरने की सीमा तक है। प्रेमशंकर की इन कविताओं में संवेदनात्मक अनुभूति सघन और सान्द्र हो गयी है। फूल, फल, बौर, वसन्त आदि के द्वारा उस सम्वेदन और मनो-राग को व्यक्त किया गया है। कवि ने सम्बन्धों के आधार की खोज की है। व्यक्तियों पर केन्द्रित कविताएँ भी हैं, निराला के प्रति, फ़िरदौसी, बापू की याद में, सम्बन्ध ऐसी ही कविताएँ हैं। 'निराला के प्रति' कविता का संयोजन बेहतर है और निराला पर लिखी गयी बहुत-सी कविताओं में यह अलग से पहचानीजायेगी। कवि इसी के माध्यम से अपनी कवितापरम्परा और कविता की जमीन का भी संकेत कर जाता है : मेरे वसन्त के अग्रदूत, जब-जब धरती कुम्हलाएगी/तुम बादल-राग सुनाओगे।

मध्यान्तर, अरसे बाद, कारा, अभिनय, विदा, हिमपात, ऋतु-वृत्त आदि

कविताएँ प्रेमशंकर के गीतकार व्यक्तित्व का परिचय देती है ये कविताएँ छन्दबद्ध रिद्म से युक्त हैं। केदारनाथ सिंह ने अपनी काव्य-यात्रा के आरम्भिक दिनों में ऐसे ही गीत लिखे थे। 'हथेली का नाम' कविता में मुक्तिबोध के खुरदरे गद्य की रिद्म मौजूद है। मुक्तछन्द की कविताएँ अलग पहचान बनाती हैं। इस स्तर पर भी इन कविताओं में आश्चर्यजनक विविधता है। पर इन सबके बीच कवि की मूल चेतना जीवन को अभिनय नहीं बनाना चाहती। कवि वास्तविक जीवन संघर्ष चाहता है। सबसे अच्छी बात यह है कि इन कविताओं में जीवन से लगाव और जीवन जीने की प्रेरणा मौजूद है: "पीपल के पत्ते कुछ ऐसे/टहनी से चिपट गये, लिपट गये/ ऐसा ही मानव है/झुरस गया, विरस गया/जीवन की डाली से चिमटा है/यह कि नहीं भयदा है मौत उसे/पर सचमुच इस दुनिया से मोह बहुत भारी है/ वासन्ती वेला की आस अभी बाकी है" (पीपल के पीत पात)। यहाँ मनुष्य का संघर्षशील अभावमय जीवन ही नहीं, आशा का संसार भी है। इसीलिए ये कविताएँ अकेलेपन की यातना के खिलाफ हैं तो अमानवीकरण के खिलाफ भी।

प्रेमशंकर की कविता में द्वन्द्वात्मक अनुभूतियाँ अपने केवल आवेगात्मक रूप मे ही नहीं, बल्कि इतिहासबोधात्मक रूप में संवेदन का जरूरी हिस्सा बनकर आयी हैं। इतिहास के त्रासद और रक्तरंजित पन्नो पर कवि का आवेग व्यंग्य रूप मे मुखर हुआ है। त्रिलोचन ने अगर प्रेमशंकर की कविता में उपजे व्यंग्य का कारण कवि के दुखी मन को माना है तो निश्चित रूप से दुख और करुणा का विश्वरूप यहाँ मौजूद है। यह दु:ख अपनी अकेली चिन्ता को लेकर नहीं है। आजादी की सासों पर आज भी मध्ययुग नियन्ता है। संकलन की अनेक कविताओं में आजादी की उपलब्धियों का लेखा-जोखा है। यहाँ सकारात्मक उपलब्धियाँ कम और प्रतिबन्धात्मक दबाव अधिक हैं। आजादी के बाद जो नये सवाल खड़े हुए हैं उनसे कवि दो-चार करता है। भाषा, धर्म, सम्प्रदाय और पूरी सांस्कृतिक परम्परा तथा मूल्यों को तोड़ने-फोड़ने के प्रमुख कारकों में वह राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता को दोषी पाता है। 'नक्शे के टुकड़े' कविता की वस्तु इस भीषण त्रासदी से उपजी गहन फंतासी है। यह खत्म होती जा रही मानवीय संवेदना की सबसे दुखद परिणति है जो 'लाश का बयान' बन गयी है। इस यात्रा की परिणति भयावह है कन्याकुमारी में सूर्योदय और सूर्यास्त/फटे हुए नक्शे पर समुद्र-तट खोजते हैं (नक्शे के टुकड़े)।

प्रेमशंकर अगर गांधी का स्मरण करते हैं और उनके मार्फत मानवीय संस्कृति के कुछ मूलभूत प्रश्नों को उठाते हैं तो इसलिए नहीं कि वे गांधी के पास सभी प्रश्नों का हल पाते हैं, बल्कि इसलिए कि वे इस ऐतिहासिक सचाई को नकार नहीं पाते कि इतिहास शक्तियाँ उसी जमीन पर पैदा हुई हैं। महात्मा गांधी देश के स्वाधीनता आन्दोलन की उपज हैं। वस्तुत: प्रेमशंकर प्रबल राष्ट्रीय चेतना के कवि

हैं। उनकी राष्ट्रीय चिन्ता मानव मुक्ति के सन्दर्भों से जुड़ी है। स्वाधीनता आन्दोलन से उपजी राष्ट्रीय चेतना के विखण्डन से कवि दुखी है। वह अलगाववाद, क्षेत्रीयतावाद और तरह-तरह के विध्वंसक कारनामों को विकास और प्रगति के लक्षण नहीं मानता। वह उन्हें आजादी के बाद विकसित हुए नये अन्तर्विरोधों के रूप में देखता है। यह भारतीय आजादी का सबसे दुखद पहलू है। इस दुख से व्यंग्य पैदा हुआ है। प्रेमशंकर की कविता यहीं से यात्रा करती है और उसका विस्तार अकगणित की तरह नहीं होता। यहीं कवि की सृजन-क्षमता की परख हो जाती है। प्रेमशंकर की कविता की रचना-प्रक्रिया आम में बौर आने और फल लगने की प्रक्रिया के समान है, जिसमें साधन भी साध्य का सहयोगी हो जाता है। कवि जीवन की रौनक को भी इसी रूप में देखना चाहता है। इसीलिए वह उस मनुष्यता को स्वीकार करता है जो दुर्भाग्य को जीवन निर्माण की नींव का पत्थर मानता है। कहने लगा मनुपुत्र/आने दो इसे दुर्भाग्य बन/जिन्दगी की नींव में/यह एक पत्थर और है (उल्कापात)।

प्रेमशंकर शब्दों की अर्थ सामर्थ्य को अपनी भाव सम्पदा के अनुरूप लाने के लिए उसके देशज रूप की खोज करते हैं और अभिव्यंजना की एक ऐसी लोकोक्तिमय भाषा का इस्तेमाल करते हैं जो उनकी कविता के संसार को केवल कविता का ही संसार नहीं रहने देती। सर्कस का प्रतीक रैली के लिए उपयुक्त है जिसके माध्यम से कवि तन्त्र के एक-एक नट-बोल्ट को खोल कर हमारे सामने बिखरा देता है और ऐसे सर्कस की वास्तविकता छुपाये नहीं छुपती : "बच जाता है मरघटी सन्नाटा/फटी बिवाइयों से टपकता खून/गन्दे चीथड़े, टूटी चूड़ियाँ, फटी झंडियाँ/··· वही बेगार, वही यातना की अन्तहीन यात्रा" (अन्तहीन यात्रा)।

प्रेमशंकर की कविता अपनी चिन्ता में ऐतिहासिक-सामाजिक सूत्रों से उलझती है, खासकर जहाँ देश, राजनीति और मनुष्य के प्रश्न हैं; वह न केवल अपनी काव्य परम्परा को देखती है, बल्कि वह भारत की सांस्कृतिक परम्परा को भी देखती है। वह चाहे धर्म, सम्प्रदाय या जातीयता का प्रश्न हो अथवा संस्कृति का, वह आयातित स्वरूप हो जो आधारहीन और सत्वहीन है तथा सामान्यजन के खाद-पानी पर उगा और परजीवी बन गया है। यही वह संस्कृति है जो ऐतिहासिक उपलब्धियों को भी प्रदर्शन और जलसे की वस्तु बनाकर परम्परा के स्रोत को खत्म कर देती है। इस सन्दर्भ में कवि गांधी की चिन्ता को कम करके नहीं देखता : मैं नदी की धार से कटता जा रहा हूँ / मुझे एक बार फिर जोड़ दो / बरसात जाने वाली है / और मैं यों ही मर जाना नहीं चाहता (बापू की याद में)।

प्रेमशंकर की कविता में अंधेरे और उजाले का द्वन्द्व लगातार सक्रिय है। इस

द्वन्द्व में जीवन की आशा और जिजीविषा तत्व प्रबल हैं। यह जीवन समूह का जीवन है। कवि जानता है, बीहड़ रास्तों के लिए मित्र का साथ यात्रा को सुख-मय बनाता है। वह बार-बार जीवन का संकेत पाता है। सुख और दुख दोनों को समभाव से स्वीकार करता है 'ज़िन्दगी की हर दुपहरी सत्य/ज़िन्दगी की हर अमावस भव्य'। इसीलिए वह कहता है : चाहता हूँ दुपहरी हो/तप रही हो भूमि/शीश पर हो सूर्य/ज़िन्दगी में रात भी हो/व्योम की छाई अमा में/चाँदनी का भ्रम नहीं हो/मैं परीक्षित हो सकूं/परछाइयों से दूर हटकर (परछाइयाँ)। प्रेमशंकर की कविता में यही वह तत्त्व है जो उनके व्यक्तित्व को बहुआयामी बनाता है।

निर्बन्ध यात्रा

श्रीमती मीना पिपलापुरे

डॉ० प्रेमशंकर ने अपनी यात्रा का आरम्भ कविता से किया और जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, अध्यापकीय दबावों में वे अनुसंधान तथा समीक्षा की ओर अधिक ध्यान देने लगे। पर उनके सर्जन का एक और पक्ष है जिस ओर हमारा ध्यान इसलिए भी जाना चाहिए कि उससे उनके व्यक्तित्व को समझने मे सहायता मिलती है। 'प्रसाद का काव्य' का प्रथम संस्करण 1955 में आया और यह उनकी प्रथम पुस्तक है और सबसे लोकप्रिय भी। पर डॉ० प्रेमशंकर निरन्तर लिखते-छपते रहे हैं और उन्होंने लगभग सभी जानी-मानी पत्र-पत्रिकाओं में लिखा है। जिन्हें हम लघु पत्रिकाएँ कहते हैं, उनमें भी उन्हें देखा जा सकता है जिससे उनकी रचनात्मक निरन्तरता का परिचय मिलता है। इसे हम उनकी निर्बन्ध यात्रा कह सकते हैं।

जिसे हम निबन्ध कहते हैं, वह मुक्त लेखन के रूप में स्वीकार किया गया है और यह भी विचित्र स्थिति कि हिन्दी में उसका पूर्ण विकास नहीं हो सका जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य विद्यानिवास मिश्र जैसी प्रतिभाओं ने इस विधा में स्वयं को व्यक्त किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब प्रेमशंकर अध्यापन और आलोचना के क्षेत्र में बस गए तब भी उनके भीतर का सम्वेदनशील कवि किसी न किसी रूप में बना रहा और वे इसकी अभिव्यक्ति के लिए मार्ग खोजते रहे। प्रेमशंकर एक सफल अध्यापक हैं और जिन्होंने उनकी कक्षा में उपस्थित रहने का अवसर पाया है वे जानते हैं कि प्रेमशंकरजी सर्जनात्मक अध्यापन की मिसाल हैं और विद्यार्थियों को अपने साथ लेकर चलने का प्रयत्न करते हैं। कविता के मर्म तक अपने विद्यार्थियों को ले जाने की कला वे जानते हैं। अपने भाषणों में भी वे इसका परिचय देते हैं।

निबन्ध, संस्मरण, यात्रा-वृत्तान्त आदि प्रेमशंकर के लिए एक प्रकार से कविता के निकट का लेखन है। कविताएँ भी वे बीच-बीच में लिखते रहे हैं और उनका एक कविता संकलन 'पहाड़ी पर बच्चा' भी प्रकाशित है। पर लगता है कि अपनी

भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उन्होंने स्फुट लेखन का सहारा लिया और निबन्ध के कई रूपों को अपनाया। इस लेखन को यदि संकलित किया जा सके तो प्रेमशंकर की विकास-यात्रा का पता चल सकता है। आरम्भ में वे स्वच्छन्दतावादी प्रभाव में थे और उनमें भावुकता की मात्रा पर्याप्त थी। पर धीरे-धीरे वे इतिहास-समाजशास्त्र की ओर मुड़े और मार्क्सवाद से भी प्रेरणा ली। वे किसी ऐसे मार्ग की खोज करते दिखाई देते हैं जहाँ अतिवादों से बचा जा सके और कृति का सही विश्लेषण हो सके। वे आलोचना की सामाजिकता की बात करते हैं (सृजन और समीक्षा)। प्रेमशंकर ने पत्रकारिता में रुचि ली है और जब वे काशी विश्वविद्यालय मे छात्र थे तो आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिए उन्होंने वहाँ के कुछ पत्रों में कार्य भी किया। उसी समय उनकी कुछ रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में आने लगी थीं। यह देखकर आश्चर्य होता है कि अध्यापन के साथ उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर लेखन कार्य कैसे निभा लिया। उन्होंने डॉ० देवराज, कुंवरनारायण आदि के साथ लखनऊ से 'युगचेतना' पत्रिका का सम्पादन भी किया। दैनिक पत्रों से लेकर अकादमिक पत्रिकाओं तक में उनका लेखन देखा जा सकता है जिसके कई खण्ड बनाए जा सकते हैं।

'कल्पना' हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिका रही है और उसके महत्त्व को सभी ने स्वीकार किया है। प्रेमशंकर इस पत्रिका के माध्यम से लेखक रूप में उभरकर आए और वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि उनके व्यक्तित्व के बनाने में 'कल्पना' की भूमिका है। विद्यार्थी जीवन में प्रेमशंकर हिन्दी पत्रों के संवाददाता रहे हैं और इस प्रकार उन्हें पत्रकारिता का आंशिक अनुभव है। वर्षों तक वे नवभारत टाइम्स (बम्बई) में सांस्कृतिक स्तम्भ लिखते रहे हैं। स्वतन्त्र भारत (लखनऊ), आज (वाराणसी), नवभारत टाइम्स (दिल्ली-बम्बई), नई दुनिया (इन्दौर), भास्कर (भोपाल), नवभारत (जबलपुर), अमर उजाला (आगरा) आदि दैनिक पत्रो में उन्हें देखा जा सकता है। कई बार ऐसा भी हुआ है कि कुछ सामयिक प्रश्नों को लेकर उनमें प्रतिक्रियाएँ जागी हैं और उन्होंने इसे इन पत्रों के माध्यम से व्यक्त किया है। साहित्यिक पत्रिकाओं में डॉ० प्रेमशंकर नियमित रूप से लिखते रहे है और इनकी सूची काफी लम्बी है। कल्पना (हैदराबाद), युगचेतना (लखनऊ), आलोचना (दिल्ली), ज्ञानोदय (कलकत्ता), कृति (दिल्ली), लहर (अजमेर), माध्यम (प्रयाग), पूर्वग्रह, साक्षात्कार (भोपाल), वसुधा (जबलपुर), वीणा (इन्दौर), अजंता (हैदराबाद), भारतीय साहित्य (दिल्ली), गगनांचल (दिल्ली), मधुमती (उदयपुर), मधुमाधवी (जयपुर) आदि में उन्हें देखा जा सकता है। अनियतिकालीन पत्रिकाओं में भी वे लिखते रहे हैं: आवेग, तनाव, आकण्ठ, साम्य आदि में। इसके अतिरिक्त धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, कादम्बिनी, ब्लिट्ज, करेंट, आदि मे भी वे छपे हैं। इस प्रकार प्रेमशंकर काफी पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहे हैं और इस

आयु में भी सक्रिय है

प्रमशकर की निबन्धात्मकता कई रूपो मे देखी जा सकती है। उन्होंने पर्याप्त सख्या में संस्मरण लिखे हैं। यहाँ यह उल्लेख कर देना जरूरी है कि वे कई व्यक्तियों के निकट सम्पर्क में आए हैं और उनसे उन्होंने प्रेरणा ली है। आचार्य नरेन्द्रदेव, आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, महादेवी वर्मा, अज्ञेय, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, ठा० जयदेवसिंह, डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, सर्वेश्वर, विजयदेवनारायण साही, दुष्यन्त कुमार, सोमदत्त आदि पर उन्होने सस्मरण लिखे हैं। प्राय: संस्मरण लिखते हुए हम उस व्यक्ति से अपने सम्बन्धो का बखान करने लगते हैं। पर प्रेमशंकर इन व्यक्तियों से प्रेरणा लेते हैं और उनकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव से उन्होंने समाजवाद का पहला पाठ सीखा और ठा० जयदेव सिंह को वे अपना सारस्वत निर्माता मानते है। अपनी पुस्तक 'सृजन और समीक्षा' अर्पित करते हुए इन दोनों को 'दीक्षा-गुरु' कहा है। आचार्य नरेन्द्रदेव का वे आभार मानते हैं कि उस महान विचारक ने उन्हे जातिमुक्त किया (ज्ञानोदय, धर्मयुग)। ठा० जयदेवसिंह कई दिशाओ के विद्वान—दर्शन, साहित्य, संगीत। प्रेमशंकर लिखते हैं कि अब ऐसे सरस्वती-साधक विरल। शिष्य-वत्सल ऐसे कि जब प्रेमशंकर काशी की ओर चले तो उनके पास गुरुवर का पत्र था, कुलपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन के नाम। डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी को प्रेमशंकर ने बुजुर्ग इतिहासकार के रूप में देखा है और कहा है कि विद्या के प्रति समर्पित अध्यापकों की पीढ़ी धीरे-धीरे कम होती जा रही है (नई दुनिया)।

प्रेमशंकर ने गुरुवर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को अपने निर्माता के रूप मे देखा है। काशी में जो संस्कार आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र जैसे रसज्ञ पंडित से मिले थे, उन्हें आचार्य वाजपेयी के सान्निध्य में विकास मिला। साहित्य अकादमी के लिए प्रेमशंकर ने आचार्य वाजपेयी पर जो पुस्तक लिखी है, उसमें उनके मानवीय गुणों पर भी प्रकाश डाला है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को प्रेमशंकर बहुत आदर के साथ स्मरण करते हैं। 'भक्तिकाव्य की भूमिका' के समर्पण में उन्हे 'आलोक पुरुष' कहकर सम्बोधित किया है। आचार्य द्विवेदी संस्कृति के जीवन्त तत्वों को आज के समय-सन्दर्भ में रखकर देखते हैं और यह उन्हें प्रेरणा देता है। द्विवेदीजी की शिक्षा उन्हें याद है कि बड़ी लकीर बनाते चलो। प्रेमशंकर ने स्वीकार किया कि जिन व्यक्तियों की प्रेरणा से वे स्वच्छन्दतावादी काव्य से भक्ति-काव्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की ओर मुड़े, उनमें प्रमुख हैं : डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० रामरतन भटनागर आदि। महान व्यक्तियों पर लिखते हुए प्रेमशंकर कृतज्ञता-भाव से परि-चालित हैं और सहज भाव से उनका ऋण स्वीकार करते हैं।

प्रतिभा का असमय अवसान त्रासद होता है और प्रेमशंकर ने अपनी पीड़ा कई प्रकार से व्यक्त की है। 'निराला' को सम्बोधित उनकी सशक्त कविता है, आरम्भ है : मेरे कवि तुमको बाँध सके/ऐसा जन्मा है छन्द कहाँ। और समापन है : जब-जब धरती कुम्हलाएगी/तुम बादल-राग सुनाओगे/हर बार वसंती बेला में/तुम मलयदूत बन आओगे। उन्होंने अपने एक निबन्ध में निराला और मुक्तिबोध की क्रान्तिधर्मिता में समानता की रेखाएँ खोजी हैं। महादेवी, अज्ञेय, सर्वेश्वर, विजयदेवनारायण साही, भारतभूषण अग्रवाल, दुष्यन्त कुमार, सोमदत्त आदि के निधन पर प्रकाशित उनके संस्मरणों में एक कवि की भावुकता देखी जा सकती है। प्रेमशंकर संस्मरणात्मक होते हुए भी स्वयं को पीछे रखने का प्रयत्न करते हैं ताकि व्यक्ति के कुछ गुण सामने आ सकें। जैसे महादेवी को वे 'निष्कम्प दीपशिखा' के रूप में देखते हैं, जिनकी अप्रचलित काव्यपंक्तियाँ उद्धृत करते हैं : सृजन की थकन भूल जा देवता/अभी तो बनी है धरा अधबनी। महादेवी की वेदना है कि दायित्व-हीन नेतृत्व ने समाज की नयी पीढ़ी भी पथभ्रष्ट कर दी। विजयदेवनारायण साही को प्रेमशंकर सतेज मेधावी पुरुष के रूप में देखते हैं। संस्मरण लिखने के मूल में प्रेमशंकर का सहज भाव है—प्रतिभा के महत्त्व का स्वीकार। अहंकार-रहित व्यक्ति ही ऐसा कर सकते है।

संस्मरणों के क्रम में प्रेमशंकर का सबसे मार्मिक निबन्ध है—'काशी से मगहर तक' (प्रज्ञा, का०वि०वि) जिसमें उन्होंने अपने मातृपीठ काशी विश्वविद्यालय का सादर स्मरण किया है जहाँ उनके शिक्षा-संस्कार बने। वहाँ के गुरुजन को वे बहुत सम्मान से याद करते हैं और अपने भाग्य को सराहते हैं कि महामना पं० मदनमोहन मालवीय और सर्वपल्ली राधाकृष्णन के दर्शन पाए। 'चन्दन के वृक्ष और रा०सा० ओयल' निबन्ध में प्रेमशंकर ने अपने इण्टर कालेज जीवन को याद किया है। गेटे और नेरुदा प्रेमशंकर के प्रिय कवि हैं। इनके अनुवाद उन्होंने किए हैं और लेख भी लिखे हैं।

हरिशंकर परसाई प्रेमशंकर के प्रिय लेखक हैं—लगभग निराला, नागार्जुन की तरह। परसाई पर उनके कई निबन्ध हैं, कुछ समीक्षात्मक और कुछ संस्मरणात्मक भी। परसाई को प्रायः व्यंग्यकार के रूप में देखा जाता है और उनकी 'मारक शक्ति' पर विशेष बल दिया जाता है। पर प्रेमशंकर इस सहज सामाजिक चेतना के मूल मे निहित संवेदनशीलता का विशेष उल्लेख करते हैं और इस विषय में स्वयं परसाई को उद्धृत करते हैं : "मैं बहुत भावुक, संवेदनशील और बेचैन तबीयत का आदमी हूँ" (परसाई : गर्दिश के दिन)। परसाई से प्रेमशंकर को सजग सामाजिक चेतना, आत्मालोचन की प्रेरणा मिलती है। व्यंग्य की तह में छिपी जो मानवीय संलग्नता है, वह परसाई को एक अधिक दायित्वपूर्ण लेखक के रूप में प्रतिष्ठित करती है। प्रेमशंकर ने परसाई की कृति 'बोलती रेखाएँ' के रेखाचित्रों पर विशेष ध्यान दिया

, जहां मनीषी जी हैं—कबीर अथवा निराला के प्रतीक। "किस अमृतघट से इतना घूंट पी लिया है कि संसार का जहर उसे चढ़ता ही नहीं" (परसाई)। लगता है हरिशंकर परसाई पर सम्पूर्ण पुस्तक लिखने की योजना भी प्रेमशंकर मे कही काम कर रही है।

प्रेमशंकर में कोई यात्रिक है और इस सम्बन्ध में वे राहुल सांकृत्यायन के 'घुमक्कड़शास्त्र' तथा अज्ञेय के 'बहता पानी निर्मला' के साथ गुरुनानक के यायावर दर्शन की बात करते हैं। उन्होंने अपने देश को पास से देखा-जाना है, विदेश की भी यात्राएं की हैं। पूर्वांचल, अजन्ता, एलोरा आदि को लेकर उनके यात्रा संस्मरण हैं किंचित भावुक, जैसे पूर्वांचल में रुक्मिणी की गाथा और एलोरा के मूर्तिशिल्पियो की निष्ठा की स्मृति। काशी उन्हें बहुत प्रिय है और वे बार-बार इसे याद करते हैं, कहते हैं 'काशी का गंगाजल अब भी काम आ रहा है' (प्रज्ञा), अतिथि अध्यापक के रूप में प्रेमशंकर ने यूरोप के कई विश्वविद्यालयों में व्याख्यान दिये। वे रोमन सस्कृति का स्मरण करते हैं जहाँ साहित्य, चित्र, मूर्ति, कला की समृद्ध परम्परा बनी। फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, इटली आदि अपने साहित्यकारों का सम्मान करते है, पर भारत में प्रेमचन्द भी स्मारकविहीन; निराला, मुक्तिबोध अनपुजे ही रह गए। भारतीय संस्कृति और रचना पर पश्चिम की उपभोक्तावादी सभ्यता के दबाव पर उन्हें चिन्ता है। यहाँ प्रेमशंकर का देशज चरित्र देखा जा सकता है। कई बार लगता है कि प्रेमशंकर जैसे संवेदनशील व्यक्ति के लिए निबन्ध सही माध्यम हो सकता था। उनके संस्मरण इसका प्रमाण जहाँ उनकी भावुकता उड़ान लेती है, कल्पना भी : अस्पताल की एक शाम (कृति), पं० जी की बातें (वसुधा), राम की सघर्ष गाथा (कादम्बिनी) कुत्ते की नयी नसल (वीणा), डाक्टर असली-नकली (न० भा० टाइम्स) आदि उनके अन्य निबन्ध हैं जहाँ सम्भवत: अपने प्रिय लेखक नागार्जुन अथवा परसाई की तर्ज पर वे व्यंग्य का सहारा लेने की कोशिश करते है, पर यह प्रेमशंकर की मूल प्रवृत्ति नहीं है। वे अधिक दूरी तय नहीं कर पाते। दरअसल निबन्धशीलता में प्रेमशंकर का कवि-रूप सक्रिय रहता है, इसलिए सवेदन मुख्य आधार है।

'युगचेतना' के सम्पादन मंडल में डॉ० देवराज, कुंवरनारायण आदि के साथ प्रेमशंकर का भी नाम है। उस समय वे लखनऊ क्रिश्चियन कालेज में अध्यापक थे। प्रवेशांक से लेकर 1956 के मध्य तक वे इससे जुड़े रहे और सागर आ जाने पर सम्पादन से दूर हो गए। 'युगचेतना' निकालने में सभी ने श्रम किया और यह अपने समय की महत्त्वपूर्ण पत्रिका रही है। इसके लेखकों की सूची देखकर इसके विस्तार का पता चलता है जिसमें पुरानी पीढ़ी के लेखकों से लेकर समकालीन युवा पीढ़ी तक के लोग मौजूद हैं। शायद ही कोई ऐसी प्रतिभा हो जिसकी रचनाए 'युगचेतना' में प्रकाशित न हुई हों और इसका श्रेय सबके सम्मिलित श्रम को जात.

है। डॉ० प्रेमशंकर ने वर्षों तक सागर विश्वविद्यालय की शोधपत्रिका 'मध्यभारती' का सम्पादन किया। डॉ० निर्मला जैन के साथ सम्पादित उनकी पुस्तक है: 'आधुनिक समीक्षा' जो साहित्य अकादमी, दिल्ली से प्रकाशित हुई। डॉ० विश्वंभर उपाध्याय के साथ उन्होंने डॉ० देवराज पर भी ग्रन्थ सम्पादित किया। डॉ० प्रेमशंकर का पत्र-पत्रिकाओं का यह लेखन उनके व्यक्तित्व की विविधता बताता है कि उन्होंने राजनीतिक-सामयिक विषयों पर टिप्पणी करते हुए अपनी सजगता का परिचय दिया है। निबन्धकार प्रेमशंकर मूलतः संवेदन से परिचालित होते हैं, इसे ध्यान में रखना होगा।

सदाशय के शब्द

[1]

विद्यानिवास मिश्र
कुलपति

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रेमशंकर को जब से याद करता हूँ तब से एक ही बात सबसे अधिक मन मे उभरती है, विनम्र पर हमेशा प्रश्न छेड़ने के लिए आकुल, संकल्पवान् समाजवादी पर कठमुल्लेपन से एकदम उद्विग्न, जुझारू पर शान्त। ऐसे व्यक्ति को विरोधाभास तो कह नहीं सकते। यही कह सकते हैं कि हर आदमी अपने आपमें एक अद्वितीय गुण-योग होता है, जहाँ कभी-कभी गुण दुर्गुण बन जाते हैं और दुर्बलता गुण बन जाती है। प्रेमशंकर के साथ ऐसा हुआ है। वे कटुतिक्त नहीं हो सकते, इसीलिए अच्छी तरह लड़ नहीं सकते; खीझ सकते हैं, पर लड़ने से यह कतराना उनकी सहिष्णुता बन गया है। इसी तरह वे अच्छे विचारक हैं, अच्छे अध्येता है, जरूरत से कुछ ज्यादा ही, पर उनका व्यक्तित्व निखरता है उनकी कविता मे, जिससे कम लोग परिचित हैं। कविता में वे बहते हैं, आलोचना में वे जम जाते हैं। हाँ, इधर भक्ति साहित्य की आलोचना में वे तरल से तरलवर होते जा रहे है और यह परिवर्तन ध्रुव ही सुखद है।

प्रेमशंकर को मैं जब से जानता हूँ, जब वे शोभान्वित कहीं हुए थे, क्रिश्चियन कालेज, लखनऊ में नये-नये लेक्चरर हुए थे, लकदक रहते थे, खूब बहस करते थे, पर विनम्रता बिना खोये हुए। वे डॉ० देवराज के सम्पर्क में रहकर थोड़े बहुत अनास्तिक भी होना चाहते थे पर दूसरी बात है हो नहीं पाये। उन्हें और नज़दीक से जानने लगा जब वे सागर आ गये और सागर में मेरे स्थायी आतिथेय बन गये। और नज़दीक से जाना जब शोभा को जाना और तब समझ पाया कि प्रेमशकर पूर्व जन्म में निश्चित रूप से बहुत ही एकनिष्ठ पतिव्रता पत्नी रहे होंगे। नही तो ऐसा योग नही प्राप्त होता कि पूर्व जन्म में जो पति रही हो, वह पत्नी बन कर आये। अपने ऊर्जस्वी व्यक्तित्त्व को नारी के रूप में ढाल कर आये। शोभा को मैं
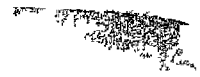
प्रेमशंकर के लिए अपूर्व वरदान मानता हूँ, वह निरी शक्ति नहीं है, वह शक्तिमान भी है। प्रेमशंकर उसकी बात देर से मानते सही हैं, पर देर-सबेर महसूस जरूर करते हैं कि शोभा सही थी। शोभा ने उन्हें किताबों में रमने के लिए पूरी छूट दे रखी है और किताबों में रमना प्रेमशंकर का व्यसन है। यह व्यसन मुझे बहुत अच्छा लगता है, बशर्ते कि यह व्यसन बहकने-बहकाने का कारण न बनता हो। और प्रेमशंकर बहकते नहीं, न बहकाने की कोशिश करते हैं, वे ऐसे मितभाषी तो नहीं पर जल्पाक भी नहीं हैं। शोभा ने उनकी क्रिया ले ली है और अपनी संज्ञा भी उन्हें सौंप दी है। प्रेमशंकर पत्र लिखेंगे तो क्रिया मिलेगी भी तो संज्ञा का आकार ग्रहण करके। ऐसा लगता है कि यह व्यक्ति संज्ञा में ही डूब गया है। उनकी सक्रियता भी संज्ञान-प्रधान हो गयी है।

भगवान् जाने प्रेमशंकर को खाना बनाना या ऐसे दूसरे दैनन्दिन कार्य करना आता है या नहीं। आने की उम्मीद बहुत कम है पर प्रेमशंकर को लिखना आता है। मध्ययुगीन भक्ति साहित्य के विवेचन के व्याज से जो उन्होंने लिखा है, वह मध्य-युग का ही संज्ञान नहीं कराता, वह एक बीसवीं सदी के सजग मनुष्य का भी संज्ञान कराता है, कैसे विखण्डन, टूटन, बिखराव, अविश्वास, सन्देह और तामस आवेश से सब तरफ से अवशिष्ट मनुष्य मध्ययुगीन सन्तों की वाणी में अपने समय के लिए अर्थ पाता है, राह पाता है, राहत पाता है, आलोक पाता है, अपनी क्षीण-सी ऊर्जा की चिनगारी के लिए फूंके पाता है, यह समझना हो तो प्रेमशंकर की आलोचना-यात्रा बहुत रोचक दस्तावेज सिद्ध होगी। मूलत: प्रेमशंकर छायावाद की आलोचना में दीक्षित हुए, उसका प्रभामण्डल आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयीजी के रूप मे उन्हे घेरे रहा, परन्तु सम्भवत: आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की दीक्षा का प्रभाव हो या डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी और पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र के पास उठने-बैठने का प्रभाव हो या कोई अनजगा पूर्व संस्कार कारण हो, प्रेमशंकर पहले तो भक्ति के सामाजिक सरोकार की मीमांसा में लगे, धीरे-धीरे और गहरे उतरे और उसकी आत्ममन्थन अनुभूति का स्पर्श पाकर भक्तिकाव्य में मनुष्य जीवन की सार्थकता की पहचान उन्होंने शुरू की और इधर की उनकी सबसे नयी पुस्तक 'भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र' इसका प्रमाण है। इसे पढ़कर मुझे बड़ा परितोष हुआ।

प्रेमशंकर मेरे छोटे भाई की तरह क्या, छोटा भाई ही है पर उससे भी अधिक वे बहुत ही अच्छे मित्र हैं। सलाह भी गाहे-बगाहे देते रहते हैं। सुधि बराबर लेते रहते हैं, ऐसे लोग सुधि लेते हैं तो अपनी सुधि आती है और सुधि आती है तो अच्छा लगता है। जीना तभी सार्थक है, जब दूसरे सुधि लेने वाले हों, तमाशबीन या दु:खास्वादी बनकर नहीं, सही अर्थ में चिन्ता करने वाले व्यक्ति के रूप मे। प्रेमशंकर ऐसे दुर्लभ मित्रों में है और जिस व्यक्ति के मित्र धीरे-धीरे कमते जा रहे हो, उसको यह पूंजी बड़े जतन से रखने की वस्तु है, भवभूति के शब्दों में : 'तत्रस्य

केमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ।

प्रेमशंकर साठ पार कर गये, यह बहुत अच्छा नहीं लगता, अपने से जो एक दो वर्ष भी जो छोटा हो, उसे बुढ़ाते देखना सहन नहीं होता। प्रेमशंकर से भी यही कहूँ। परिपक्व और परिपक्वतर हो, बूढ़े न हो, एवा मे प्राण मा रिषः, मन से बूढ़े न हो। समय को कन्धे पर न ढोओ, हाथ में लो, लगाम बनाकर लो, अपने वश में रखो। सार्थक जीवन जिओ और मित्रों को अपने उत्तरोत्तर उत्कर्ष से सुख दो।

विद्यानिवास मिश्र

[2]

हरिशंकर परसाई

1527 नेपियर टाउन
जबलपुर

प्रिय वीरेन्द्र मोहन,

डॉ० प्रेमशंकर के सम्मान में तुम लोग ग्रंथ प्रकाशित कर रहे हो, यह अच्छा सकल्प है। मुझे यह जानकर बहुत खुशी हुई। स्वास्थ्य ठीक होता तो प्रेमशंकर पर मैं लेख लिखता। उम्र में मैं बड़ा हूँ इसलिए वे मुझे बड़ा भाई और अपने को 'अनुज' कहते हैं। मेरी और प्रेमशंकर की पहली मुलाकात कब हुई, यह मुझे याद नही आता। मेरा ख्याल है कि लगभग पैंतीस साल से वे मेरे मित्र हैं। पहली मुलाकात बहुत करके स्वर्गीय रामेश्वर गुरु के यहाँ हुई होगी। प्रेमशंकर जबलपुर आते तो गुरुजी से मिलते थे। मेरा सागर आना अक्सर होता था।

मेरी मुलाकातें प्रेमशंकर से लगातार होती रहीं हैं। मैं अक्सर सागर जाता था और प्रेमशंकर भी जबलपुर आते रहते थे। अभी भी आते हैं और मुझसे जरूर मिलते है। दो बार मुझे प्रेमशंकर ने लेखन कार्यशाला संचालित करने के लिए विश्वविद्यालय (सागर) बुलाया था। छात्रों को मैंने कुछ सुझाव दिए। इसके तीन घण्टे वहीं बैठकर रचना लिखने के लिए दिए। मुझे यह देखकर थोड़ा अचरज और बहुत खुशी हुई कि छात्रों के साथ बैठकर प्रेमशंकर ने भी एक रचना लिखी। यह छात्रों के साथ उनके स्नेह और सहभागिता का प्रमाण था।

प्रेमशंकर बहुत अध्ययनशील हैं और अच्छी आलोचना लिखते हैं। उनका सैद्धान्तिक लेखन भी बहुत है और उच्च कोटि का है। वे मननशील हैं। अब वे नियम बंधनों के कार्य से मुक्त हो गये हैं। मैं चाहता हूँ कि वे आसन पर बैठ जायें। पढे और लिखें। मैं उनके दीर्घायु होने का आशीष देता हूँ। चाहता हूँ कि वे स्वस्थ रहें, उनमें मानसिक ऊर्जा रहे और वे कार्य करें।

तुम्हारा
हरिशंकर परसाई

श्री विष्णुकान्त शास्त्री
आचार्य, हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय

280 चितरंजन एवेन्यू
कलकत्ता-700006

सम्मान्य वीरेन्द्र मोहन जी,

सस्नेह नमस्कार।

डॉ० प्रेमशंकर के सम्मान की योजना के सम्बन्ध में आपके पत्र मिले। पिछले महीने मुझे चार बार कलकत्ते से बाहर आना पड़ा, फलतः उत्तर देने में अत्यधिक विलम्ब हो गया, क्षमाप्रार्थी हूँ। डॉ० प्रेमशंकर हिन्दी के उन थोड़े सुधी विचारकों मे हैं जो परम्परा और आधुनिकता के स्वस्थ पक्षों को समन्वित कर साहित्य की व्याख्या कर रहे हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयीजी के स्नेहमय निर्देशक को अवलम्ब बनाकर अपने गंभीर अध्ययन, मनन द्वारा उन्होंने अपनी विवेचनात्मक सरणि का स्वतन्त्र निर्माण किया है जिसके लिए अस्पृश्य तो कोई विचारधारा नही है किन्तु अन्ध श्रद्धामूलक अनुकरणीय भी कोई प्रदत्त विचारसरणि नहीं है। मैं इसे अत्यन्त बहुमूल्य पक्ष मानता हूँ, उनके चिन्तन, मनन, लेखन का।

प्रसाद से आरंभ कर समकालीन साहित्य के विविध अंगों का विशद मूल्यांकन तो उन्होंने किया ही है, लोक जीवन और संस्कृति के संदर्भ में हिन्दी के भक्त कवियों विशेषतः सूर और तुलसी के काव्य को भी अपने अध्ययन का विषय बनाया है। उनकी निर्मल मेधा जिस अधिकार के साथ गंभीर प्रश्नों के तलस्पर्शी उत्तर देती रही है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। विवेचक होने के साथ वे कवि भी हैं, संवेदनशील कवि। उनका अध्यापक-आलोचक रूप उनके काव्य के आड़े नही आता, उसे बौद्धिक पीठिका प्रदान करता है।

प्रभु से मेरी प्रार्थना है कि प्रेमशंकरजी सौ शरदों तक सक्रिय सर्जनशील रहकर हिन्दी को समृद्ध करते रहें। उनके सम्मानकर्त्ताओं में अपने को सम्मिलित कर मैं गौरव का अनुभव करता हूँ। वीरेन्द्रजी, मैं इन दिनों इतना व्यस्त हूँ कि अनेकानेक स्वीकृत कार्यों को भी नहीं कर पा रहा हूँ। अतः प्रेमशंकरजी के कर्तृत्व पर कोई लेख लिख पाना मेरे लिए इस समय संभव नहीं होगा। संवर्धना एव आशंसा के रूप में इन्हीं पंक्तियों से मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ।

स्नेही,
विष्णुकान्त शास्त्री

शेषेन्द्र शर्मा

ज्ञानबाग पैलेस
हैदराबाद

श्री प्रेमशंकरजी देश के सुविख्यात साहित्यिक विद्वानों में अग्रणी हैं। उनकी प्रतिभा, विद्वत्ता और आधुनिक युगीन चेतना उनकी पुस्तकों में भरपूर विद्यमान है। इसके अतिरिक्त वे इस देश की प्राचीन साहित्य परम्परा, उसका स्वभाव और प्रभाव से भलीभाँति परिचित हैं। इस देश की विशालता, पृथकता और उसके अन्तर्गत एकात्मकता के प्रति उनमें समग्र बोध है। यह बात भक्तिकाव्य पर किए गए उनके शोधकार्य से स्पष्ट होती है। आधुनिक आलोचक या अध्यापक के लिए इस प्रकार की अपने देश की प्राचीन परम्परा का बोध जरूरी है। प्रसिद्ध कवि और आलोचक टी० एस० इलियट ने इस पर प्रकाश डाला है। यह बोध सही साहित्यिक आलोचना के लिए जान के समान है। आज जब भारतीय साहित्य की एकता की खोज पुनः आरंभ हुई, विशेषकर हिन्दी साहित्य पर अधिक दायित्व होता है— भारत की समस्त भाषाओं के साहित्य को समन्वित कर विशाल दृष्टि से सार्वदेशिक दृश्य बनाने की संस्कृति निर्माण करने का। इस दायित्व को श्री प्रेमशंकरजी ने अपने कार्यक्षेत्र में अच्छी तरह से निभाया है।

यूरोप, अनेक देशों का समुदाय होते हुए भी उसके बुद्धिजीवियों की विशाल सांस्कृतिक चेतना के कारण, जो उनके साहित्य और कला के माध्यम से लगातार प्रतीत होती आयी, आज एक देश होने में पहली बार पदार्पण किया। वैसे ही हमारे प्रिय भारत को भी न केवल राजनीतिक रूप से, बल्कि भावात्मक रूप से भी एक देश बनने में, देश के सारे बुद्धिजीवियों खासकर साहित्यकारों का दायित्व बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्रेमशकरजी की कृतियों से हमें स्पष्ट रूप से यह प्रकट होता है कि उनमें यह युगीन और ऐतिहासिक चेतना भरपूर है। प्रेमशंकरजी उन महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों में से हैं जो आज भारत में भाषा-प्रान्त आदि संकुचित सीमाओं को लाँघकर अखिल भारतीय साहित्य का सृजन करने में तल्लीन हैं। हमारे देश के वर्तमान साहित्य में विशाल भारतीयता की भावना व्याप्त करने में श्री प्रेमशंकरजी का योगदान अत्यन्त अमूल्य है।

शेषेन्द्र शर्मा

[5]

नेमिचन्द्र जैन
'नटरंग'

आई-47, जंगपुरा एक्सटेन्शन
नयी दिल्ली-14

प्रिय बन्धु,

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि प्रो॰ प्रेमशंकर के साठ वर्ष पूरे करने के उपलक्ष्य में एक सम्मान ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना है। मैं प्रेमशंकरजी के व्यक्तित्व और कार्य को जानता हूं और आपके इस कार्य में सफलता की हृदय से कामना करता हूं।

आपका
नेमिचन्द्र जैन

[6]

भीष्म साहनी

दिल्ली

प्रिय वीरेन्द्र मोहन,

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि डॉ॰ प्रेमशंकर के साठवें जन्म दिवस के उपलक्ष्य में आप एक सम्मान ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहे हैं। डॉ॰ प्रेमशंकर चिरायु हों और लगन और निष्ठा के साथ हिन्दी साहित्य की सेवा करते रहें, यही कामना है।

सस्नेह
भीष्म साहनी

[7]

निर्मला जैन

दिल्ली विश्वविद्यालय
दक्षिण परिसर

प्रिय श्री वीरेन्द्र मोहन,

मुझे प्रसन्नता है कि आप प्रो॰ प्रेमशंकर के सम्मान में एक ग्रन्थ प्रकाशित

करने की योजना बना रहे हैं।

प्रो० प्रेमशंकर से मेरा परिचय लगभग बीस वर्ष पुराना है। उन्होंने इस दौरान एक कुशल आचार्य और विद्वान की हैसियत से मध्यप्रदेश के प्राचीनतम विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को अपनी सेवाएं अर्पित की हैं। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त स्नेही, सहज और गरिमापूर्ण है। वे साधिकार हिन्दी के मध्ययुग से सम-सामयिक युग तक अनेक विषयों पर महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना करते रहे हैं। उनकी विद्वता का लाभ उनके विश्वविद्यालय को ही नहीं, बल्कि संगोष्ठियों के माध्यम से अखिल भारत को मिलता रहा है। मेरा विश्वास है वे निरन्तर साहित्य की सेवा इसी रूप में करते रहेंगे और अपने मित्रों और साहित्य-प्रेमियों के बीच अपनी मिलनसार विनम्रता और सहृदयता से लोकप्रिय बने रहेंगे।

भवदीय
निर्मला जैन

[8]

राजेश जोशी

एम आई जी 11,
सरस्वतीनगर
भोपाल

प्रिय वीरेन्द्र भाई,

प्रेमशंकरजी साठ वर्ष के हो रहे हैं, इस पर ग्रन्थ निकालने की योजना स्वागत योग्य है। प्रेमशंकरजी लगातार सक्रिय आलोचक हैं। एक ओर उन्होंने अपनी परम्परा से अपने तार जोड़े हैं तो दूसरी ओर उनकी दृष्टि समकालीन परिदृश्य पर भी है, यह बहुत महत्वपूर्ण है। वे दीर्घायु हों और स्वस्थ रहते हुए लगातार रचनारत रहें, कम-से-कम हमारी पीढ़ी के लिए तो यही शुभ होगा। ऐसी ही इच्छा मैं कर सकता हूं।

मेरी शुभकामनाएं स्वीकार करें।

आपका
राजेश

[9]

अरुण कमल

मखानिया कुँआ रोड
पटना

डॉ० प्रेमशंकरजी की साठवीं वर्षगाँठ पर हमारी ओर से अनन्त शुभकामनाएं और बधाइयाँ।

इस अवसर पर हम प्रसन्न भी हैं और थोड़ा संकोच भी अनुभव कर रहे हैं। कवि, आलोचक, विद्वान् आदरणीय डॉ० प्रेमशंकरजी की साठवीं वर्षगाँठ का ध्यान कर हमें प्रसन्नता हुई क्योंकि ऐसे क्षण प्रायः आमोद-प्रमोद और उत्सव का हेतु होते हैं। संकोच इसलिए हो रहा है कि आज तक, उनकी कृतियाँ पढ़ते हुए या विभिन्न मुलाकातों, वार्त्तालापों में भी, हमें कभी उनके वय का, उनकी सीनियॉरिटी का अहसास तक नहीं हुआ। वय का कभी उन्होंने अन्दाज ही नहीं होने दिया। जो उनके शिष्य और पुत्र होने योग्य हैं उन्हें भी मित्रवत् जाना।

लेकिन अब तो वो एक दूरी आ ही गयी—सहसा पथ में जल का एक प्रवाह आ ही गया। हम इसका स्वागत करते हैं। यह एक पवित्र प्रवाह है, शीतल। शिरोधार्य।

हमें आशा है साहित्य-सम्बन्धी उनके लेखों, मध्यकाल के बारे में उनकी शोधपूर्ण पुस्तकों तथा उनकी नयी कविताओं से हमें ऊर्जा मिलती रहेगी। उन्हीं की पंक्ति है—

मेरे कवि, तुमको बाँध सके
ऐसा है कोई छंद कहाँ?

अरुण कमल

[10]

आपकी पुस्तक 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' मुझे समय से मिल गई थी और मैंने उसे बड़े ध्यान और रुचि से पढ़ लिया है। एक सक्षम लेखक की सफल रचना पर अपना मत देना मात्र औपचारिकता होगी, यह सोचकर मैंने आपको अभी तक नहीं लिखा। वैसे मुझे स्वयं अपनी सीमाओं का भी बोध है, अपने अधिकार-क्षेत्र के बाहर के विषय पर टिप्पणी करना, शायद दुस्साहस ही होगा।

पुस्तक मुझे बहुत पसन्द आई। पढ़ते समय कई बार स्वर्गीय आचार्य नन्ददुला-

वाजपेयी और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की शैली की भी याद आई। विषय-वस्तु की सूक्ष्म पकड़ और प्रवाहमान शैली दोनों ने मुझे प्रभावित किया। आपकी भाषा जीवंत और आधुनिक है। मुझे प्रसन्नता है कि पुस्तक में कहीं भी पाठक को आतंकित करने वाला आडम्बरपूर्ण आचार्यत्व नहीं है। सम्प्रेषण की सहजता इस पुस्तक का विशेष गुण है।

श्यामाचरण दुबे
निदेशक,
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला

[11]

डॉ० प्रेमशंकर की 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' छायावाद युग और काव्य का विवेचन करने वाली एक सर्वांगपूर्ण कृति है जिसमें छायावादी लेखन की सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पाश्चात्य प्रभाव, आन्तरिक संरचना और उसके प्रमुख व्यक्तित्वों का प्रामाणिक विवरण तथा सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक लेखक के विस्तृत अध्ययन और व्यापक दृष्टिकोण को प्रतिफलित करती है। कवियों के अलावा छायावाद के समीक्षकों पर भी लम्बी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं। किसी दूसरी पुस्तक में छायावाद सम्बन्धी इतनी सामग्री एकत्रित हो सकी है, मुझे मालूम नहीं। निश्चय ही यह लेखक की प्रौढ़तम समीक्षा कृति है और छायावादी आलोचना के क्षेत्र में एक विशिष्ट उपलब्धि।

देवराज
अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

[12]

आपने छायावाद को अधिक व्यापक आधार पर देखा है और जिस ढंग से देखा है, वह आपका अपना है। आपके विश्लेषण में एक अद्भुत विश्वसनीयता है, जो शायद बौद्धिक स्थापनाओं को गहरी अनुभूति का स्पर्श देने से पैदा हुई है। कृपया इस गम्भीर आलोचनात्मक प्रयास के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें।

केदारनाथ सिंह
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

प्रेमशंकर

जीवन-परिचय

अवध जनपद (सीतापुर) के नैमिषारण्य क्षेत्र में 1930 के वसंत के आस-पास जन्म। पत्नी : डॉ० श्रीमती शोभाशंकर, बेटी : रोली, बेटा : रजत।

संघर्षरत आत्मनिर्भर जीवन

ठा० जयदेवसिंह की सदाशयता से शिक्षा

उच्च शिक्षा काशी विश्वविद्यालय में जहाँ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी छात्रवृत्ति मिली।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के निर्देशन में 1953 में 'प्रसाद का काव्य' विषय पर पी एच० डी० उपाधि, 'भक्तिकाव्य' डी-लिट का विषय

अध्यापन का आरम्भ लखनऊ क्रिश्चियन कालेज से जहाँ 'युगचेतना' के सम्पादन-मण्डल में।

यहीं आचार्य नरेन्द्रदेव के निकट सम्पर्क में।

1956 से सागर विश्वविद्यालय में आचार्य, अध्यक्ष, संकाय अधिष्ठाता आदि।

दो बार इटली में विज़िटिंग प्रोफ़ेसर, योरप के कई विश्वविद्यालयों में व्याख्यान।

प्रकाशन

प्रसाद का काव्य,
कामायनी का रचना-संसार,
हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य,
भक्तिचिन्तन की भूमिका,

भक्तिकाव्य की भूमिका,
रामकाव्य और तुलसी,
कृष्णकाव्य और सूर,
भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक चेतना,
भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र,
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी,
सृजन और समीक्षा,
नयी कविता की भूमिका,
पहाड़ी पर बच्चा (कविता)

पता :

ब-16, विश्वविद्यालय परिसर,
सागर (म० प्र०)-470003